उरू ज्योति

[वेद सम्बन्धी आध्यात्मिक निबन्धों का संग्रह]

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

प्रकाशक

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

सन् 1953

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थ माला—२१

उरु-ज्योति

वैदिक अध्यात्मसुधा

[वेद-सम्बन्धी आध्यात्मिक निबन्धो का सग्रह]

लेखक—

श्री वासुदेवशरण

प्राध्यापक—हिन्दू विश्व विद्यालय काशी

—❀⌒❀—
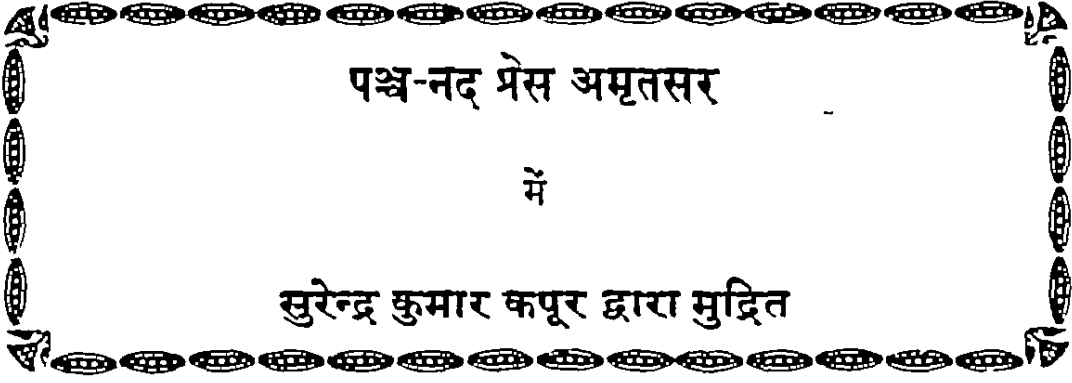
प्रकाशक—

मन्त्री-श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

——:o.——

प्रथमवार १००० प्रति

दयानन्दाब्द १२९
स० २०१०
सन् १९५३

मूल्य ३) रु०

पञ्च-नद प्रेस अमृतसर

में

सुरेन्द्र कुमार कपूर द्वारा मुद्रित

भूमिका

उरुज्योतिश्चक्रथुरार्याय (ऋ० १।११७।२१)

"उरु ज्योति" [वैदिक अध्यात्म-सुधा] का प्रथम संस्करण १४-१२-१९३७ को श्री बा० हरशरणदास जी रईस, गाजियाबाद, द्वारा अपने पूज्य पिता स्वर्गीय ला० कन्हैयालाल की स्मृति में २०००) के दान से स्थापित श्री कन्हैयालाल वैदिक-प्रकाशन-निधि की ओर से प्रकाशित हुआ था। किन्तु इसके मुद्रक श्री प्रभाकर प्रेस आगरा से केवल २०० प्रतियाँ प्राप्त हुईं और शेष प्रतियाँ उस प्रेस के किन्हीं उत्तमर्णों के पास चली गईं। फलतः पुस्तक पाठकों तक नहीं पहुँच सकी। जो २०० प्रतियाँ मित्रों और विद्वानों में वितरण हुईं, उनके आधार पर अनेक स्थानों से कितनी ही बार इस पुस्तक की माँग आती रही, जिसकी पूर्ति न कर पाने पर मुझे खेद होता था। अतएव मुझे विशेष प्रसन्नता हुई जब मेरे मित्र श्री प० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु और उनके सहयोगी श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने इस पुस्तक को रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर की ओर से पुन. प्रकाशित करने का प्रस्ताव किया। उसी प्रबन्ध के फलस्वरूप अब १६ वर्षों बाद यह निबन्ध संग्रह पाठकों के हाथों में पहुँच सका है। इस संग्रह के सभी वैदिक लेख १९३७ के पूर्व लिखे गये थे, केवल "विचारों का मधुमय उत्स = शब्द और अर्थ" शीर्षक अन्तिम लेख बाद की रचना है।

वैदिक विचारो का मेरे लिए बहुत मूल्य है। उनका मेरे जीवन पर पर्याप्त ऋण है। भारतीय संस्कृति की आत्मा की खोज करते हुए समस्त विचार-धाराओं और अभिप्रायों का पर्यवसान वैदिक साहित्य में होता है। उसी मधुमय उत्स से भारतीय अध्यात्म शास्त्र के निर्झर प्रवाहित हुए हैं। वैदिकविचार बुद्धि का कुतुहल शान्त करने के लिए

पण्डितों के हेतुवाद नहीं हैं। उन में सृष्टि के अनुभूत सत्य हैं। विश्व चैतन्य की स्फूर्ति की प्रतीति पदे-पदे इनकी भाषा में मिलती है। वैदिक कविता की भाषा जैसी तेजस्वी है, वैसा तेज तो कालान्तर की साहित्यिक शैली में नहीं मिलता। एक स्वर से भारतीय मनीषियो ने वेदों के इस पद को स्वीकार किया है। किन्तु आज के युग में परम्परा की मान्यताएँ पर्याप्त नहीं मानी जातीं। आज वैदिक अध्यात्म शास्त्र की महिमा और उपयोगिता को मानवीय हेतुवाद और जीवन में परखने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से भी यह साहित्य विलक्षण मूल्य रखता है।

इस युग की सब से बड़ी उलझन वैदिक परिभाषाओं की खोज है। सायण ने हमें वेदों के शब्दार्थ से परिचित कराया। सायण की सहायता के विना इस महा समुद्र में हम न जाने कहाँ होते। किन्तु यज्ञीय कर्मकांड की व्याख्या के लिए मन्त्रों का विनियोग तो वैदिक अर्थों का एक अंश मात्र था। वेद के पश्चिमी विद्वानो ने सायण के प्रदर्शित मार्ग से वेदों का अनुशीलन किया, किन्तु उन्हों ने भाषाशास्त्र और तुलनात्मक धर्म-विज्ञान इन दो नए अस्त्रो से वैदिक अर्थों की जिज्ञासा को आगे वढाया। जो विद्वान् उन के प्रयत्नों से परिचित हैं, उन्हे जैसा श्री ई० जे० टामस ने डा० रीले की पुस्तक 'वैदिक गाड्स एज फिगर्स आव बाओलोजी' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिक अर्थों के प्रज्ञान की समस्या का समाधान अभी नहीं हुआ। वैदिक मन्त्रो के अर्थ अभी तक 'सप्रश्न' के रूप में हमारे सामने हैं। उनसे सम्बन्धित अनेकानेक प्रश्नों का मुख अभी तक खुला हुआ है। वह समाधान और युक्तिपूर्ण विवेचन की अभी तक बाट देख रहा है। भारतवर्ष में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक अर्थों के प्रश्न को आमूल चूल झकझोरा। उनका यह श्रेय है कि उन्होंने निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रतिपादित अर्थ विज्ञान शैली को प्रतिष्ठा प्रदान की। उनके प्रदर्शित सिद्धान्त की सहायता से उपलब्ध सामग्री का सर्वांग निर्वचन अभी

कर्तव्य शेष है। समस्त वेदों का पर्यवसान अध्यात्म विद्या में है। यह दृष्टि कोण स्वामी दयानन्द ने अपनी विशाल प्रज्ञानमयी प्रतिभा से जिस दृढ़ता से रक्खा, उससे वैदिक अर्थों की शैली सचमुच बहुत लाभान्वित हुई। वैदिक अर्थों की प्रधान समस्या ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रदर्शित विज्ञानमयी परिभाषाओं का स्पष्टीकरण है। उदाहरण के लिये गायत्री और सावित्री में क्या अन्तर है? 'वाक् इन्द्र है,' 'प्राण इन्द्र है', 'मन इन्द्र है', 'हृदय इन्द्र है', 'दक्षिण अक्षि में जो पुरुष है वह इन्द्र है', विष्णु और इन्द्र दोनों स्पर्धाशील देव एक दूसरे से सघर्ष करते हैं, दोनों की जय पराजय मानवी जीवन का संवर्धन और ह्रास है—इत्यादि सैकडो सहस्रों प्रकार के गूढ सकेत ब्राह्मण ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। या तो वे निरर्थक कह कर त्यागने योग्य हैं, या उनके पीछे युक्तियुक्त अर्थ अभिप्रेत हैं। इस विप्रतिपत्ति का समाधान आवश्यक है। वैदिक अर्थ विज्ञान की इस शैली को वेदसमुद्र श्री पं० मधुसूदन ओझा ने अपने शताधिक ग्रन्थों से और उनके प्रमुख शिष्य श्री प० मोतीलाल जी शास्त्री ने अपने विपुल हिन्दी ग्रन्थों मे सप्रमाण पल्लवित किया है। वेदार्थ के जिज्ञासुओं के लिए वह सामग्री महत्त्वपूर्ण है। योगिराज श्री अरविन्द ने भी वेदों के आध्यात्मिक रूपकों की व्याख्या में भाग लिया और उनके वैदिक निबन्ध इस विषय मे मूल्यवान हैं। श्री आनन्दकुमार स्वामी भारतीय कला के मार्मिक विद्वान थे। उन्होंने कला के अभिप्रायों की भाँति वैदिक सृष्टि-विद्या के अभिप्रायो की बहुत ही रोचक और मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करने का मार्गदर्शन किया। उनके अनुसार वैसा कोई अर्थ या अभिप्राय उपनिषदों के अध्यात्म शास्त्र में नहीं है जिसका मूल वेदों में नहीं। वेदों के सम्बन्ध में विचारों के विकास की कल्पना या किसी आदिम युग की विचार-पद्धति की कल्पना डा० कुमार स्वामी नहीं मानते। उनके शब्दों में 'सनातन धर्म' (शाश्वत दर्शन philosophia perennis) है, वे लिखते हैं—

"मैं नहीं मानता कि उपनिषदों में ऐसे किसी तत्त्व का उपदेश है जिसका परिज्ञान वैदिक ऋषियों को न था। यह भी नहीं माना जा सकता कि वैदिक मन्त्रों के कर्ताओं ने ऐसा-वैसा कुछ कह डाला जिसका अर्थ उन्होंने ठीक न समझा हो। मन्त्रों की अध्यात्म-विज्ञान परक सगति सिद्ध करती है कि उनके रचयिता ऋषियों के मन में उनके अर्थों की कल्पना स्पष्ट थी। मेरे विचार में भारतीय विद्वानों को उचित है कि वे विश्वव्यापी सृष्टि विज्ञान का, जो जगत् के साहित्य में विद्यमान है, उपयोग करके वैदिक विज्ञान की व्याख्या और समर्थन करें। वेदों का अर्थ भारतीय अध्यात्म विद्या की व्याख्या न होकर विश्वव्यापी अध्यात्म विद्या की व्याख्या है। भारतीय आत्मविद्या की सहायता से पश्चिमी धर्म ग्रन्थों के भी अनेक अभिप्रायों पर यथार्थ नया प्रकाश डाला जा सकता है। तत्त्वों में मेरी रुचि उनके सत्य होने के कारण है, न कि उनके भारतीय होने से। 'सनातन धर्म' या सनातनी आत्मविद्या किसी एक काल, देश या जन विशेष की सम्पत्ति नहीं है, वह तो मानव जाति की जन्मसिद्ध सम्पत्ति है*।"

---

* I should say that it is futile to search for meanings in the Samhitas which are not the meanings of the Upanishads I cannot believe that anything taught in the Upanishads was not known to the Vedic rishis The strictly metaphysical consistency of the mantras makes it inconceivable that they come into being without an understanding of their meaning I do, however, believe that Indian scholars, in order to fortify their position as against the profanity and puerility of European scholarship must now-a-days make use of the Philosophia Per-

वस्तुतः वैदिक आत्म-विद्या के विषय में यह दृष्टिकोण समीचीन है। मत मतान्तर के समर्थन के लिए वेदमन्त्रो की चरितार्थता नहीं है। आत्म-विद्या के जिज्ञासुओं के लिए मन्त्रों की भाषा और परिभाषाओं को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। हमारी दृष्टि मे वेदार्थ को अवगत करने के लिए ऊपर के सभी मतो में सत्य का अंश है। जिस विधि से मन्त्रों पर नया प्रकाश पड़े, जिस अर्थ से आत्म-विद्या का कोई नया क्षेत्र या पहलू प्रकाशित हो, वही दृष्टिकोण, प्रमाण या सामग्री स्वागत के योग्य है। वेद के जिज्ञासु छात्र का मन सब ओर से उन्मुक्त रहता है। उसके मन में चातुर्दिश दीप्ति पटों से प्रकाश और वायु का स्वच्छन्द प्रवेश होता है। वह आलोक का स्वागत करता है और उस महान् व्यापक ज्योति के लिए अपने चक्षु खोलता है जो पृथिवी और द्युलोक के अन्तराल में भरी हुई है। मित्र और वरुण अथवा ऋत और सत्य नामक सृष्टि के द्वन्द्वात्मक तत्त्व की ही ज्योति हमारे भीतर बाहर सब ओर व्यापक है। इसी को 'उरु ज्योति' कहा गया है।

मित्रावरुण ने आर्य के लिए उरु-ज्योति उत्पन्न की—

उरुज्योतिश्चक्रथुरार्याय (ऋ० १।११७।२१)

---

ennis as a whole and not only of its Indian forms An interpretation of the Vedas is not really an interpretation of Indian metaphysics, but of metaphysics. It is also possible to add very much to the understanding of western scriptures if they are read in the light of the Indian Atmavidya My interest is in doctrines that are true, rather than because they are Indian The Phylosophia Perennis-our "Sanatana Dharma" is not a private property of any time, or place, or People but the birth right of humanity

२३-३-१६३६ के एक पत्र से।

इसका यह तातपर्य लगाना कि यह महान् प्रकाश आर्य के लिए है, अनार्य के लिए नहीं, बुद्धि का कुण्ठित भाव है। वस्तुत विश्व की महान् ज्योति पर किसी का स्वत्व नहीं है। आकाश, सूर्य, महाभूत, इनके समान यह ज्योति उनके लिये है जिनके हृदय इसके प्रति स्फुरित हैं, गतिशील हैं, चैतन्य के स्पर्श से स्पन्दित हैं। जिसमें यह स्पदन और स्फूर्ति है, वही आर्य है, वही उस चैतन्य सत्र का ऋत्विक् है; अन्यथा जो जड़ता से मानसिक तन्द्रा में ग्रस्त है उसके लिए न ये विचार हैं और न इस ज्योति की किरणें उसके मन की सतरगी वर्ण पट्टी पर कुछ प्रभाव डालती हैं।

'उरु-ज्योति के इन लेखों में वैदिक आत्म-विद्या का कोई क्रमिक अध्ययन नहीं है, इसमें उसके आलोक की कुछ बिखरी हुई किरणें ही हैं। किन्तु इनके पीछे आत्मविद्या विषयक निष्ठा है। उसके साथ साथ यह विश्वास भी है कि समस्त भारतीय वाङ्मय में वह अन्तर्यामी सूत्र फैला हुआ है। उसके कुछ ही विचार परमाणुओं पर प्रतिफलित ज्योति की ये रश्मियाँ सगृहीत की गई हैं। 'आश्रमविषयक-योग क्षेम' नामक लेख उत्तर गर्भित प्रश्नमुखी शैली से उन अनेक परिभाषाओं की ओर ध्यान खींचता है जिनकी अमित व्याख्या वेदार्थ के लिये आवश्यक है और जिनकी बारहखडी से आत्म-विद्या का यह विवेचन आगे बढाया जा सकता है।

काशी विश्वविद्यालय
६-१०-५३

वासुदेवशरण

ओ३म्

प्रकाशकीय वक्तव्य

वेद को ईश्वर का ज्ञानमय तप कहा गया है। निखिल सृष्टि का जो ज्ञान और विज्ञान है, वह सत्य का ही रूप है। उस सत्य की बहुमुखी व्याख्या वेदों का उद्देश्य है। सृष्टि विद्या की पूर्णतम भाषा वैदिक परिभाषाओं के रूप में प्रकट हुई है। ऋषियों की समाधि वह अध्यात्मिक प्रयत्न था, जिस के द्वारा ज्ञान विज्ञान के महान् सत्य का साक्षात्कार किया जाता है। समाधि की अवस्था में जिन नित्य तत्त्वों और अर्थों की सत्यात्मक ज्योति का प्रत्यक्ष होता है उसी सहस्रात्मक विशाल ज्ञान ज्योति को ही वैदिक भाषा में उरु-ज्योति कहा गया। यह प्रकाश पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के गम्भीर अन्तराल में भरा हुआ है। लोक लोकान्तरों में भी यही प्रकाश व्याप्त है। कल्प के आदि से प्रलयान्त तक यह प्रकाश या ज्योति कभी अन्धकार से धूमिल नहीं होती। यही ईश्वर का देश और काल में अवाधित सत्यात्मक रूप है। इसी के लिए कहा गया है "उरुज्योतिश्चक्रथुरार्याय"। मित्र और वरुण अर्थात् ज्योति और तम के द्वन्द्वात्मक नियम के भीतर आर्यजन को उरु-ज्योति या महान् प्रकाश का दर्शन करना चाहिये। हमारे चारों ओर क्षण-क्षण में पग-पग पर मित्र और वरुण का यह द्वन्द्वात्मक यियम कार्य कर रहा है। इसी को ऋत और सत्य भी कहा जाता है। स्वय सृष्टि का महान् देव इस द्वन्द्व से अतीत है। वह स्वयं सत्यात्मक ज्योति है। आर्यजन को उसी का दर्शन करने का प्रयत्न करना उचित है।

यह 'उरु-ज्योति' पुस्तक प्रकाश की कुछ किरणों द्वारा उसी महती दिव्य ज्योति की ओर सकेत करती है।

मानव मस्तष्कि और हृदय में सात्त्विक-राजस और तामस विचारधाराएँ सतत चलती रहती हैं, जिन का प्रभाव उसके नित्य प्रति के कार्य कलापों में दृष्टिगोचर होता रहता है। सत्त्व-रजस्-तमस् मूलक ही तो यह ससार है। मानव हृदय में जो भी कमिया न्यूनताएँ हैं वा होती रहती हैं, वे सब अविद्या-अज्ञान का ही परिणाम हुआ करती हैं। मनुष्य को जब भी उन का परिज्ञान हो जावे और वह उन को दूर करने के लिए विह्वल हो उठे। यह जीव के अपने शुभ कर्मों तथा सर्वान्तर्यामी प्रभु की प्रेरणा का ही फल होता है।

मानव जब अपनी कमियों (अज्ञान) को अनुभव करने लगता है, तभी समझना चाहिये कि वह उन्नति की ओर चलने लगा है। कमियाँ रहनी स्वाभाविक है। वस्त्र का मलिन होना स्वाभाविक है। कोई यह नहीं कह सकता कि मेरा वस्त्र मैला नहीं होता। दो दिन में चार दिन में वस्त्र ने मैला अवश्य होना है। यही अवस्था मन की है। उसने परिस्थितियों के वशीभूत मैला होना ही है। अब आवश्यकता इस बात की है कि मन के मैल को दूर करने के लिये कौनसा मार्जक (साबुन) काम में लाया जावे।

"विचार" ही एक ऐसा साबुन है जिस से मन का मैल दूर होना सम्भव है। विचार से मनुष्य उठता है, विचार से गिर जाता है। जब भी अपनी कमी का ज्ञान हो जाता है और उसे दूर करने का दृढ़ सकल्प हो जाता है, तभी मनुष्य को आत्मचिन्तन या विचार का महत्त्व समझ में आता है। तभी छोटे से छोटा समझा जाने वाले प्रयोग का वास्तविक मूल्याङ्कन होता है। उत्तम-पवित्र विचारों से मन उठता है, निकृष्ट वा अपवित्र विचारों से मन पतनोन्मुख होने लगता है। यह रहस्य समझ में आने पर मानव का उत्थान सम्भव है।

मानवमन में सुविचार और कुविचार (देव-असुरवृत्तियाँ) रूपी दो धाराएँ सदा बहती रहती हैं। कभी देव वृत्तियाँ कभी असुर वृत्तियाँ बलवती होती हैं। कुविचारों को परास्त (दूर) करने का एक मात्र उपाय सुविचारों का मन में सञ्चार करना है। विपरीत गुण सञ्चार (Anti-dose) का सिद्धान्त चिकित्सा का परम सिद्धान्त है। विचारों की यही महिमा है। सम्+ध्यान—सन्ध्या—भक्ति—आत्मचिन्तन ये सब इस के रूपान्तर हैं, जो वास्तव में एक है।

वैदिक अध्यात्मसुधा (उरु ज्योति) इन्हीं विचारों की पवित्रता में सहायक हो, इसी विचार से सात्त्विक, प्रभु-वेद भक्त, धर्ममें निष्ठावान्, सुयोग्य विद्वान् ने २४ अध्यात्मविचार धाराओं को यह रूप दिया है, जिस में एक से एक धारा सात्त्विक और अपना अपना वैशिष्ट्य रखती है। हमारे विचार में उपर्युक्त दृष्टि से इस "अध्यात्मसुधा" का पान किया जावे, तो निश्चय ही मानव त्रुटियो (अज्ञान) को दूर करने में यह परम सहायक होगी। इन्हीं विचारों को लेकर देश के माननीय विद्वान श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल कृत यह पुस्तक श्री रामलाल कपूर ट्रस्टकी ओर से प्रकाशित की गई है। इस के लिये ट्रस्ट उनका आभारी है। वेदमन्त्रों के आधार पर अध्यात्मचिन्तन के लिये यह अपने ढङ्ग का संग्रह है। वेदमन्त्रों की अलौकिकता को विद्वान लेखक ने स्थान स्थान पर दर्शाया है। वेद में भक्ति रखने वाले प्रत्येक स्वाध्यायशील नर नारी को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये।

वेद अपौरुषेय हैं। मानव का तो सामर्थ्य ही कितना है। एक पत्ते का भी पूर्ण ज्ञान उसे नही हो सकता। श्मशान में जाते समय मनुष्य की शक्ति का प्रत्येक को स्पष्ट भान होता है कि जीव कितना अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति वाला है। वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, सब ऋषि मुनियों का यही सिद्धान्त है। इस पुस्तक में कहीं कहीं 'ऋषि ने कहा' 'ऋषि कहता है' आया है। सो वह औपचारिक प्रयोग समझना चाहिये। जैसे निरुक्त

यह 'उरु-ज्योति' पुस्तक प्रकाश की कुछ किरणों द्वारा उसी महती दिव्य ज्योति की ओर सकेत करती है ।

मानव मस्तष्कि और हृदय में सात्त्विक-राजस और तामस विचारधाराएँ सतत चलती रहती हैं, जिन का प्रभाव उसके नित्य प्रति के कार्य कलापों में दृष्टिगोचर होता रहता है। सत्त्व-रजस्-तमस् मूलक ही तो यह ससार है। मानव हृदय में जो भी कमिया न्यूनताएँ हैं वा होती रहती हैं, वे सब अविद्या-अज्ञान का ही परिणाम हुआ करती हैं। मनुष्य को जब भी उन का परिज्ञान हो जावे और वह उन को दूर करने के लिए विह्वल हो उठे। यह जीव के अपने शुभ कर्मों तथा सर्वान्तर्यामी प्रभु की प्रेरणा का ही फल होता है।

मानव जब अपनी कमियों (अज्ञान) को अनुभव करने लगता है, तभी समझना चाहिये कि वह उन्नति की ओर चलने लगा है। कमियाँ रहनी स्वाभाविक है। वस्त्र का मलिन होना स्वाभाविक है। कोई यह नहीं कह सकता कि मेरा वस्त्र मैला नहीं होता। दो दिन में चार दिन में वस्त्र ने मैला अवश्य होना है। यही अवस्था मन की है। उसने परिस्थितियों के वशीभूत मैला होना ही है। अब आवश्यकता इस बात की है कि मन के मैल को दूर करने के लिये कौनसा मार्जक (साबुन) काम में लाया जावे।

"विचार" ही एक ऐसा साबुन है जिस से मन का मैल दूर होना सम्भव है। विचार से मनुष्य उठता है, विचार से गिर जाता है। जब भी अपनी कमी का ज्ञान हो जाता है और उसे दूर करने का दृढ सकल्प हो जाता है, तभी मनुष्य को आत्मचिन्तन या विचार का महत्त्व समझ में आता है। तभी छोटे से छोटा समझा जाने वाले प्रयोग का वास्तविक मूल्याङ्कन होता है। उत्तम-पवित्र विचारों से मन उठता है, निकृष्ट वा अपवित्र विचारों से मन पतनोन्मुख होने लगता है। यह रहस्य समझ में आने पर मानव का उत्थान सम्भव है।

मानवमन में सुविचार और कुविचार (देव-असुरवृत्तियाँ) रूपी दो धाराएँ सदा वहती रहती हैं। कभी देव वृत्तियाँ कभी असुर वृत्तियाँ बलवती होती हैं। कुविचारों को परास्त (दूर) करने का एक मात्र उपाय सुविचारों का मन में सञ्चार करना है। विपरीत गुण सञ्चार (Anti-dose) का सिद्धान्त चिकित्सा का परम सिद्धान्त है। विचारों की यही महिमा है। सम्+ध्यान—सन्ध्या—भक्ति—आत्मचिन्तन ये सब इस के रूपान्तर हैं, जो वास्तव में एक है।

वैदिक अध्यात्मसुधा (उरु ज्योति) इन्हीं विचारों की पवित्रता में सहायक हो, इसी विचार से सात्त्विक, प्रभु-वेद भक्त, धर्ममें निष्ठावान, सुयोग्य विद्वान् ने २४ अध्यात्मविचार धाराओ को यह रूप दिया है, जिस में एक से एक धारा सात्त्विक और अपना अपना वैशिष्ट्य रखती है। हमारे विचार में उपर्युक्त दृष्टि से इस "अध्यात्मसुधा" का पान किया जावे, तो निश्चय ही मानव त्रुटियों (अज्ञान) को दूर करने में यह परम सहायक होगी। इन्हीं विचारों को लेकर देश के माननीय विद्वान श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल कृत यह पुस्तक श्री रामलाल कपूर ट्रस्टकी ओर से प्रकाशित की गई है। इस के लिये ट्रस्ट उनका आभारी है। वेदमन्त्रों के आधार पर अध्यात्मचिन्तन के लिये यह अपने ढङ्ग का सग्रह है। वेदमन्त्रों की अलौकिकता को विद्वान लेखक ने स्थान स्थान पर दर्शाया है। वेद में भक्ति रखने वाले प्रत्येक स्वाध्यायशील नर नारी को यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये।

वेद अपौरुषेय हैं। मानव का तो सामर्थ्य ही कितना है। एक पत्ते का भी पूर्ण ज्ञान उसे नही हो सकता। श्मशान में जाते समय मनुष्य की शक्ति का प्रत्येक को स्पष्ट भान होता है कि जीव कितना अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति वाला है। वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, सब ऋषि मुनियों का यही सिद्धान्त है। इस पुस्तक में कहीं कहीं 'ऋषि ने कहा' 'ऋषि कहता है' आया है। सो वह औपचारिक प्रयोग समझना चाहिये। जैसे निरुक्त

में 'ऋपिर्दर्शनात्' और 'कर्त्ता स्तोमानाम्' औपचारिक प्रयोग हैं। को इसे लेखक द्वारा मस्ती में लिखे भावानुसार समझना चाहिये महाभाष्य में 'ऋषि पठति' आता है। वेद की अपौरुषेयता भार मौलिक सिद्धान्त है।

हम आशा करते हैं कि सात्त्विक विचारों के इस स स्वाध्याय प्रेमी बन्धुओं को बहुत शान्ति मिलेगी और वे अनुभव कि वेद ही भक्ति का स्रोत है, और उसमें बहुत ऊँची भक्ति का प्र है, वेद की महिमा ऋषि मुनियों ने इसी लिए गाई है॥

निवेदक

मोती झील, काशी
५ कार्तिक स०२०१०
२१ अक्टूबर १९५३

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
प्रधान—श्री राम लाल कपूर
गुरुबाजार अमृत

निबन्ध सूची

ओ३म्

उरु-ज्योति

[वैदिक अध्यात्म सुधा]

१—कः

इस विराट् सृष्टि के ललाट पर महाकाल के हाथों से सर्वत्र एक ही अक्षर लिखा हुआ है। ऋषियों ने, मनीषियों ने, क्रान्तदर्शी प्राज्ञ कवियों ने, योगीश्वरों ने, आदिकाल से एक महान् रहस्य को जान लेने की सतत् चेष्टा की है; किन्तु उनको भी अन्त में 'कः' इस प्रचण्ड प्रश्न के आगे श्रद्धा से अपनी प्रणामाञ्जलि समर्पित करनी पड़ी है। यहाँ जगत् में जो असख्य रहस्य प्रतीत होते हैं, उन सब का पर्यवसान एक ही रहस्य में हो जाता है। अन्ततोगत्वा रहस्य एक ही है, और सहस्रों, लक्षों वर्षों के प्रयत्न के अनन्तर भी वह रहस्य आज तक उसी प्रकार सुमुद्रित और सुगुप्त है, जैसा कि उस समय था, जब कि ऋषियों ने "कस्मै देवाय हविषा विधेम" [ऋ० १०। १२१। १-६ ॥] की ध्वनि से गङ्गा की अन्तर्वेदी को गुञ्जायमान किया था।

प्राचीन मनीषियों ने उस अनन्त अज्ञेय रहस्यात्मक 'कः' की दुर्धर्षता से मुग्ध होकर उसी क्षण में कह दिया था—

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्" [ऋ० १०। १२९। ६ ॥]

"कौन जान पाया है, कौन उसे कहेगा ?"

परन्तु उनके उत्तराधिकारी मनुष्य-जाति के बच्चों ने दर्प-पूर्वक उस 'शिव-धनुष' रूपी रहस्य के साथ अपनी शक्ति को तोल डालने का मोघ प्रयास किया है। किन्तु, फल क्या हुआ है, और क्या आगे होने वाला है ?

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरहि न टारा ॥

वह अज्ञेय रहस्य शम्भु के शरासन की तरह तिल-भर भी डिगता नहीं दीखता। जान पड़ता है, हम सब के बुद्धि-बल की गुरुता पाकर वह और भी जटिल और क्लिष्ट होता जाता है। कवि ने जो कहा है, हमें तो वही उक्ति सत्य प्रतीत होती है—

प्रभु प्रताप महिमा उद्घाटी। प्रगटी धनु-विघटन परिपाटी ॥

अर्थात्—उस 'क्' संज्ञक रहस्य रूपी धनुष को विघटित करने के अनेक वैज्ञानिक और दार्शनिक प्रयत्नों का एक यही फल निकला है कि उससे उस 'क्' से अभिहित धनुर्धर की महिमा ही अधिकाधिक व्यक्त होती रही है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म के दो नाम कहे हैं—

कं ब्रह्म, खं ब्रह्मेति। कं च खं च न विजानामि। यद्वाव कं तदेव खं, यदेव खं तदेव कमिति[1]।

अर्थात्—ब्रह्म क है। ब्रह्म ही ख है। ब्रह्म रूप पूर्ण पदार्थ क है। उस पूर्ण के परिज्ञानार्थ जितनी पूर्ति है, जितने ज्ञान विज्ञानात्मक उपाय हैं, सब ख के अन्तर्गत हैं। वस्तुतः क और ख भिन्न प्रतीत होते हुए भी अभिन्न हैं। जो 'क' को नहीं जानता, वह 'ख' को कभी जान सकेगा, इसमें सन्देह है।

कं=खं

इस समीकरण के एक ओर भारतीय ऋषि हैं, दूसरी ओर अर्वाचीन वैज्ञानिकों के प्रयास, परन्तु 'क' की सहायता के बिना 'ख'

---

१. छा० उ० ४। १०। ५ ॥

का अनुसरण अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः का ही उदाहरण हो सकता है।

अनन्त पूर्ण तत्त्व को स्वीकार किये विना सहस्र सवत्सर तक ख मार्ग से स्वामी कार्त्तिकेय की तरह घूमते रहने पर भी सत्यात्मक 'क' की संप्राप्ति असम्भव है। विना 'क' के 'ख' शून्य है।

'क' पूर्ण आनन्द है। 'ख' शून्य है। 'क' की कुक्षि में 'ख' का निवास है। 'ख' रूपी सप्रश्न का उत्तर 'क' है। वस्तुत. 'क' जब 'ख' को पचा लेता है, खा जाता है, तव 'क' ही शेष रहता है। 'क' अन्नाद है। 'ख' उसका अन्न है। ब्रह्म और जगत् का यही सम्बन्ध है। ऊर्णनाभि की तरह उसी की कुक्षि में से जन्म लेकर फिर उसी में विलीन हो जाता है। इस प्रकार प्रश्न और उत्तर दोनों के सम्बन्ध से परिपूर्ण अक्षर एक 'क' है—

(१) क· = कौन = संप्रश्न (२) क· = पूर्ण आनन्द = उत्तर

वह क्या है? वह पूर्ण आनन्द है। इसी तत्त्व को ऋषियो ने 'क.' इस एक अक्षर से व्यक्त किया है।

इसलिए 'क' प्रजापति का नाम है। जो सवके गर्भ में है, जो सवके अन्दर विचरण करता है, वह 'क' नामक केन्द्र प्रजापति है, वह अव्यक्त है। उसी को अनिरुक्त प्रजापति कहा जाता है। जिसका कोई ग्राहक नहीं, वह आहुति परिशेषात् उसी अनिरुक्त प्रजापति की समझी जाती है।

वही केन्द्र नाना आकृतियों से व्यक्त होकर निरुक्त प्रजापति वनता है। वही तत्तत् देवताओं के भाग में आता है। निरुक्त का अन्तर्भाव अनिरुक्त में है। ये ही दो स्वरूप समस्त विश्व और तद्वाह्य तत्त्व मिलकर पूर्णता के परिचायक वनते हैं।

दोनों के लिए ही 'कः' यह वैदिक सूत्र है। इसी को ध्यानगम्य करके आज भी ऋषियों के वशज "कस्मै देवाय" मन्त्रों का उच्चारण करते हैं।

——○:०:○——

२–संप्रश्न

[The Great Question ?]
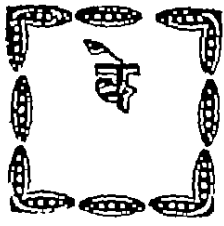
वेद के महर्षियों ने ब्रह्म-विषयक अपनी जिज्ञासा को कई प्रकार से व्यक्त किया है। समाधि में विश्व के रहस्यों पर विचार करते हुये जब वे विश्वपति के स्वरूप का ध्यान करते थे, तब अनन्त अज्ञेय तत्त्व की अनिर्वचनीयता से मुग्ध होकर उन्होंने "**कस्मै देवाय हविषा विधेम**" का गीत गाया। यह संगीत संसार के साहित्य में आज भी अद्वितीय है। कौन-सा वह देव है, जिसके लिये हम अपनी हवियों का विसर्जन करें ? इस सनातन प्रश्न के विराट् उदर में संसार के सब उत्तर निरन्तर पड़ते रहते हैं और पचते जाते हैं, पर इस प्रश्न की कुक्षि में जो हुतभुक् वैश्वानर है, वह कभी तृप्त नहीं होता देखा जाता। युग-युगान्तर के दार्शनिक इसी प्रश्न के लिये अपनी विचार-हवि कल्पित करते रहे हैं, परन्तु आज तक यह विराट् प्रश्न अंगद के पैर की तरह अपनी भूमि से तिल-मात्र विचलित नहीं हो सका। यह प्रश्न अच्युत है। अन्य सब समाधान डगमगा जाते हैं, पर यह प्रश्न ध्रुव के समान अपना स्थान नहीं छोड़ता। उद्दाम बुद्धिवाद के आघातों से इसका वज्र शरीर और भी दुर्भेद्य होता जाता है। जिस प्रकार पारद को मूर्च्छित करने के लिए मध्यकालीन रसेन्द्र दर्शन के अनुयायियों के प्रयत्न सफलता प्राप्त नहीं कर पाए, उसी प्रकार विश्व की महान् पहेली संप्रश्न को बुद्धिवाद के नाराच कभी नहीं भेद सके।

---

१ ऋ० १० । १२१ । १—६ ॥

कल्पादि से कल्पान्त तक फैले हुए काल के विशाल विस्तार में दूर से और निकट से अनेक विचार के परिव्राजक इस सप्रश्न की शरण में आया करते हैं। इसके तीर्थोदक में स्नान करके श्रद्धालुओं को शान्ति मिलती है, अश्रद्दधानों को निराशा होती है।

वेद में कहा है—

यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा।

अथर्व २। १। ३

अर्थात्—अनेक देवों में नाम-भेद होते हुए भी, जो एक ही है, उस संप्रश्न नामक ब्रह्म की शरण में समस्त भुवन प्राप्त होते हैं।

यद्यपि यह तत्त्व इतना अज्ञेय और अनन्त है, तो भी ऋषियों ने और ध्यानशील कवियों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उसका वखान किया है।

सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई। तदपि कहे विन रहा न कोई॥

नासदीय सूक्त के ऋषि ने पूछा—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्[1]?

अर्थात्—

किसने जाना? किसने कहा?

इसका उत्तर कई प्रकार से हो सकता है—

किसी ने नहीं जाना, कोई नहीं कह पाया।

अथवा—

जिसने जितना जाना, उसने उतना कहा।

अथवा—

सभी जानने वालों ने उसे अज्ञेय जाना।

फिर भी उन सब में विना कहे कोई न रहा। भाव-भेद से ये भिन्न समाधान हैं; परन्तु वह प्रश्न नित्य नया बना रहता है। जिस प्रकार पुरानी होते हुए भी उषा नित्य युवति[2] है, वैसे ही ब्रह्म का रहस्य या प्रश्न

---

१ ऋ० १०। १२६। ६॥ २ द्र० ऋ० ३। ६१। १॥

सदा ही कायाकल्प करके नवीन बना रहता है। पिछली शताब्दी में प्रश्न और समाधान इन ऋण-धन विद्युतों का जो स्वरूप था, वह अर्वाचीन विज्ञान के सामने नये कलेवर में उपस्थित हुआ है। नया बीज, नयी शाखा-प्रशाखाएँ। परन्तु उस बीज का अव्यक्त स्वरूप; उसका रहस्य अपरिवर्तनशील है; वह जैसा पहले नेति-नेति की परिधि से घिरा हुआ था, वैसा ही आज भी सिद्ध हो रहा है। उस प्रश्न-रूप प्रजापति के निरुक्त रूप (manifest forms) बदलते रहते हैं, उसका अनिरुक्त रूप सदा एक रस रहता है। ब्राह्मणों में प्रजापति के दो रूप कहे हैं—

द्वयं ह वै प्रजापते रूपं, निरुक्तं च, अनिरुक्तं च।

अनिरुक्त (Unmanifest or undefined) प्रजापति ही अमृत है। जिस आहुति में किसी देव का नाम नही होता, वह अनिरुक्त आहुति प्रजापति को पहुँचती है। यही प्रजापति की उपांशु आहुति है। यह निर्घोषा वाक् (silent, unmanifest speech) है जो सृष्टि के मूल तत्त्व के रूपमें समस्त ब्रह्माण्ड में परिपूरित है। इससे ही उत्पन्न घोषिणी वाक् है, जो प्रजापति का निरुक्त-रूप है। एक अनन्त, दूसरी सान्त है। एक सप्रश्न, दूसरी उसका उत्तर है। कार्लाइल ने कहा है—

Under all speech that is good there lies a silence that is better Silence is as deep as eternity, speech is shallow as time

अर्थात्—शब्दमय वाक् से परे एक गुह्य मौन की भाषा है, जो शब्द से उत्कृष्टतर है। मौन एक रस महाकाल के समान अगाध है, वाणी परिमित काल की तरह अपर्याप्त है।

हमारे सहस्रमुखी प्रश्नों का पर्यवसान विराट् रहस्य के अन्तस्तलमें होजाता है। आज यदि हमारे प्रश्नों का उत्तर प्राप्त नहीं होता, तो इसमें विषाद का स्थान कहाँ है? क्या हमारे पूर्वज मनीषियों ने हमारे लिए शका और सदेहों का प्रशस्त राजमार्ग नहीं बना दिया है?

मेधावी मैटरलिंक ने अपनी एक पुस्तक The Great Secret में कितने सुन्दर आश्वासन-परक शब्दों में इसी भाव को व्यक्त किया है—

Let us at once give ear to Rig-Veda, the most authentic echo of the most immemorial traditions, let us note how it approaches the formidable problem

"There was neither Being nor non-Being There was neither atmosphere nor heavens above the atmosphere What moved and whither? And in whose care? Were there waters, and the bottomless deep ?

"There was then neither death nor immortality The day was not divided from the night Only the one breathed, in Himself, without extraneous breath, and apart from Him there was nothing

"There for the first time desire awoke within Him, this was the first seed of the spirit The ages, full of understanding, striving within their hearts, discovered in non-Being the link with Being

"Who knoweth and who can tell where creation was born, whence it came, and whether the gods were not born afterwards? who knoweth whence it hath come ?

"Whence this creation hath come, whether it be created or uncreated, He whose eye watches over it from the highest heaven, He alone knoweth and yet doth He know ? [Rig-Veda X 129]

Is it possible to find in our human annals, words more majestic, more full of solemn anguish,

more angust in tone, more devout, more terrible ? Where could we find at the very foundation of life a completer and more irreducible confession of ignorance ? Where, from the depths of our agnosticism, which thousands of years have augmented, can we point to a wider horizon ? At the very outset it passes all that has been said, and goes farther than we shall ever dare to go, lest we fall into despair, for it does not fear to ask itself whether the supreme Being knows what He has done—knows whether He is or is *not the Creator, and* questions whether He has become conscious of Himself"

अर्थात्—"आइए, सर्वप्रथम हम ऋग्वेद के उन मनीषियों की बात सुनें, जिनके शब्दों में चिर-उपार्जित ज्ञान की प्रतिध्वनि निहित है। देखें किस प्रकार इस गरिष्ठ प्रश्न का समाधान उन लोगों ने किया है—

'न सत् था, न असत् था। न कहीं अन्तरिक्ष था, न उससे परे व्योम था। कौन कहाँ गतिमान् था, किसकी शरण थी ? क्या उस समय जल और गम्भीर सागर थे ?

'न उस समय मृत्यु थी, न अमृत। रात्रि और दिन का विवेक नहीं था। केवल वही एक अपनी शक्ति से बिना वायु के प्राणन-क्रिया कर रहा था। उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

'सर्वप्रथम उसमें काम उत्पन्न हुआ, जो मन का अग्रिम बीज था। ज्ञान से भरपूर विप्रों ने अपने अन्तस्तल में खोजते हुए सत् के सम्बन्ध को असत् में ढूँढ निकाला।

'कौन जानता है, और कौन कह सकता है, कहाँ से यह सृष्टि हुई है ? देव भी तो इसके जन्म के बाद उत्पन्न हुए हैं। कौन जाने यह कहा से उत्पन्न हुई है ?

यह विसृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई है ? यह जन्मी भी है या नहीं ? जो परम व्योम में इसका साक्षी द्रष्टा है, वही इसे जानता है। वह भी जानता है या नहीं ? [ऋ० १० । १२६ । १, २, ४, ६, ७]

क्या मानवी-साहित्य में ऐसे शब्द मिल सकते हैं, जो इनसे अधिक उदात्त, इनसे अधिक विषाद-पूर्ण, इनसे अधिक ओजस्वी, इनसे अधिक निष्ठा-पूर्ण और साथ ही इनसे अधिक डरावने हों ? जीवन-प्रवाह के प्रारम्भ में ही कहाँ इस प्रकार पूर्णतम विधि से मनुष्यों ने अपनी अज्ञता को एकान्ततः स्वीकार किया है ? सहस्रों वर्षों से वढने वाले हमारे गम्भीर सशय और सदेहों की परिधि क्या कही इतनी विशाल वन सकी है, जितनी यहाँ है ? अव तक इस दिशा में जो कुछ कहा जा सका है, उस सव को फीका कर देने वाले हमारे ये उषःकालीन वाक्य हैं। और कहीं ऐसा न हो कि जटिल संप्रश्नों के पथ पर चलते हुए, हम भविष्य में निराश हो वैठें, इसलिए नासदीय सूक्त के ऋषि ने, सशयवाद के मार्ग में निर्भयतापूर्वक उससे भी कहीं अधिक कह डाला है, जितना हम भविष्य में कभी कह पायगे। वह इस प्रश्न के पूछने में भी नहीं हिचकिचाता कि ब्रह्म को भी इस सृष्टि का या अपने किये का ज्ञान है अथवा नही।”

३—रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव

ऋग्वेद ६ । ४७ । १८

[In every figure He has been the model]

——:o:— —

प्रत्येक रूप में उसका प्रतिविम्ब है। इस महान् व्यापक वैज्ञानिक तत्त्व का उद्घाटन ऋग्वेद के मनीषी महर्षि गर्ग के हृदय में हुआ। कवि ने प्रज्ञा के बल से गिने हुए सरल शब्दो में ब्रह्माण्ड की आधार-शिला का वर्णन कर दिया है। इसी पर अन्ततोगत्वा वैज्ञानिको के मस्तिष्क टकराते हैं, तथा इसका आश्रय पाकर अध्यात्म-वेत्ताओं को आनन्द प्राप्त होता है। इसी सनातन सत्य को आर्ष महाप्रजाओ ने युग-युग में अहर्निश घोषित किया है। देश और काल की श्रृङ्खलाओं से अतीत यह विज्ञान है। इसी तत्त्व का पारायण समस्त आर्ष-शास्त्र सहस्र मुखो से करते आ रहे हैं। प्रत्येक रूप में उसी की मूर्ति प्रतिबिम्बत है।

यही कारण है कि विश्व का एक परमाणु भी उसी प्रकार अज्ञेय है, जिस प्रकार कि समस्त विश्व। एक-एक परमाणु का रूप उसी का प्रतिरूप है। जिस प्रकार वह ब्रह्म नेति पद से कहा जाता है, उसी प्रकार एक परमाणु के आश्चर्यमय रहस्य को सहस्रों पोथों में वर्णन कर लेने पर भी अन्त में यही कहना शेष रहता है—नेति। एक अणु का भी रहस्य यहाँ कभी कोई नहीं जान पाया, कभी कोई नहीं जानता तथा कभी कोई नहीं जान पावेगा। यह ध्रुव सत्य है। विज्ञानवादी की यह परम निराशा है, योगी के लिए यही परम तृप्ति है। कितना आनन्द है कि उसकी प्रतिरूपता से स्थित एक परमाणु के रूप पर भी वरुण के पाशों का प्रहार नहीं हो सकता। जितना हम जान पाते हैं, वह

वरुण के पाश में बँध चुका है, वही जड़ मर्त्यभावापन्न है । अज्ञात भाग अमृतमय इन्द्रप्राण से सपृक्त रहता है ।

प्रजापति के दो रूप कहे गये हैं—निरुक्त और अनिरुक्त[1] । निरुक्त अल्प एवं मृत्यु है, अनिरुक्त अनन्त एवं अमृत है[2] । रूदरफोर्ड, नील्स बोह्र, मैक्सप्लान्क, श्रूडिङ्गर और उन दुर्योधनों के एक-सौ-एक बन्धुगण मिलकर भी परमाणु के जिस रूप का वर्णन करते हैं, वह निरुक्त एवं मर्त्य है । अव्ययात्मा इन्द्र की प्रतिरूपता से निर्मित जो परमाणु का कृत्स्न रूप है, उसके तोरण के नीचे आकर तो सभी उपासकों को अन्त में नेति कहकर मस्तक झुकाना पड़ेगा । दार्शनिक मेटरलिङ्क ने कहा है—

"इस विश्व के एक अणु का रहस्य भी जिस दिन मेरी समझ में आ सकेगा, उस दिन या तो यह विश्व समस्त वैचित्र्य से हीन श्मशान के तुल्य हो जायगा, या मेरा मस्तिष्क ही फटकर गिर पड़ेगा" ।

याज्ञवल्क्य ने वहाँ पहुँचने की चेष्टा करती हुई गार्गी से ठीक ही संकेत किया था—हे गार्गी ! अतिप्रश्न [transcendental questions] मत पूछो । अति प्रश्नों के विभ्राट् में तुम्हारा मस्तिष्क उड़ जायगा । क्यों कि—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, तदस्य युक्ता हरयः शता दश ॥

ऋ० ६ । ४७ । १८ ।

उसको देखने के लिए सब रूप अच्छे हैं । सब में उसी का प्रतिबिम्ब है । त्रिभुज, चतुर्भुज, पञ्चभुज, षट्भुज आदि अनन्त भुजाओं वाली आकृति एक वृत्त की ही रूपान्तर हैं । वृत्त बिन्दु का रूप

---

१ द्र० पृष्ठ ६ ।   २ द्र० छा० उ० ७ । २४ । १ ॥

है। किसी का रूप देखो, बिन्दु की ही महिमा प्रतीत होगी। बिन्दु इन्द्र है, वह अपनी माया से नाना रूपों में प्रकट हो रहा है। उसी की सहस्र रश्मियाँ सर्वत्र फैली हुई हैं। वह बिन्दु ही उसके प्रतिचक्षण या दर्शन के लिए पर्याप्त रूप है—

तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।

रूप—रूप के पास जाकर बहुरूपता को सार मानना मस्तिष्क का श्रम है। अर्धांश, तृतीयांश, चतुर्थांश……आदि आदि अनेक सख्याओं को कहकर, पूर्ण जो एक है उसको कौन प्रकट कर सकता है? अत एव बिन्दु में ही अनेक आकृतियो के दर्शन करना बुद्धिमत्ता है। इसी तत्त्व को महर्षियों ने यों कहा है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। [योग दर्शन १ । ३]

स्वरूप ही एक रूप है। प्रतिचक्षण के लिए वही अल है। वही अल्प प्रतीत होता हुआ भी भूमा से व्याप्त है। अल्प भूमा का प्रतिरूप है। जिस द्रष्ट्रा ने अपने स्वरूप को पहचान लिया उसने मानों सब कुछ जान लिया।

सब चराचर के मध्य या केन्द्र में जो मुख्य प्राण है, वही इन्द्र है—

स योऽयं मध्ये प्राण एष एवेन्द्रः। [शतपथ ६ । १ । १ । २]

जो इन्द्र अपनी शक्तियों से अनेक रूप धारण किये हुए है, उसके ब्रह्माण्ड समित विराट् रथ में सहस्रो अश्व (हरय· शता दश) जुड़े हुए हैं । कौषीतकी ब्राह्मण के अनुसार प्राण की ही सज्ञा हरि है—

प्राणो वै हरिः। [कौ० १७ । ६]

अनन्त प्राण ही इन्द्र के सहस्रों अश्व हैं । उन्हीं की सहायता से यह महान् रथ गतिशील रहता है।

— —:o.—.—

४–एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

ऋक् १ । १६४ । ४६

—❀⊂⊃❀—

वेदों के रहस्यार्थों का व्याख्यान करने के लिए महाभारत में अपरिमित सामग्री है। महर्षि वेदव्यास की प्रतिभा से जो भारतरूपी ज्ञानदीप प्रज्वलित हुआ, उसके आलोक में प्राचीन अध्यात्म-विज्ञान और दर्शन के तत्त्वों का सहज में ही साक्षात्कार सुलभ हो गया है। इस ग्रन्थ महोदधि के निर्माता के मन में वेदार्थ-उपबृंहण की भावना सर्वदा जाग्रत रहती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि जान-बूझ कर महात्मा द्वैपायन ने श्रुति-महती-सरस्वती का सन्निवेश अपने ऊर्जायमान काव्य-प्रवाह में यथावसर और यथास्थान नाना रूपों में किया है। उस सनातन वेदरूपामृत मन्दाकिनी से विरहित रह कर व्यासजी को थोड़ी दूर की यात्रा भी श्रम-प्रद मालूम होने लगती थी; इसलिए पान्थ-श्रम के अपनोदनार्थ उन्होंने महाभारत में अनेक ऐसे ब्राह्मसरों का निर्माण किया है, जिनमें अवगाहन करने से अमर जीवन के साथ मनुष्य का अनादि परिचय फिर एक बार हरा हो जाता है। विराट् द्युलोक में सूर्य के समान प्रकाशमान ब्रह्म तत्त्व को सदा साक्षात्कार करने वाली अप्रतिहत चक्षु-शक्ति महाभारतकार के पास से एक क्षण को भी तिरोहित नहीं होती। यही महिमा तपस्वी वैदिक ऋषियों की थी। इसीलिए लोक में महाभारत को पञ्चम वेद ही समझा जाता है।

अनन्त की मुद्रा से अङ्कित, अनन्त कर्त्ता की अनन्त सृष्टि में सब कुछ अनन्त ही है। भारतीय अध्यात्मवेत्ता यह जानते थे कि

किसी तत्त्व विशेष के लिए 'इदमित्थ' इस प्रकार का आग्रह करना केवल अज्ञता है। जिन के मन में यह भाव आया कि बस इतना ही तत्त्व है, इससे आगे कुछ नहीं, वही अपूर्ण, मृत्यु और अन्धकार के गर्त में गिरा—'मतं यस्य न वेद सः'[1]।

वैदिकपरिभाषा में प्रजापति के दो रूप हैं, निरुक्त और अनिरुक्त। निरुक्त या शब्द परिमित रूप मर्त्यभावापन्न है, उसमें प्राणन का अवकाश नहीं रह जाता। अनिरुक्त या शब्दातीत रूप ही अमृत स्वरूप और सदा अनुप्राणित रहता है।

इसी सत्य का एक उद्भाव्य पक्ष यह है कि जिस तत्त्व का किसी एक नाम या रूप से हमें परिचय मिल सका है, उसी के और भी अनेक नाम और रूप सम्भव हैं। अस्यवामीय सूक्त के महर्षि ने

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"

इस विश्वव्यापिनी त्रैकालिकी परिभाषा का आविष्कार करके इसी महार्घ सत्य का संकेत किया है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातारिश्वा आदि एक ही तत्त्व के अनेक नाम हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥[2]

तथा एक ही इन्द्र अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते[3]।

गणित के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। एक ही बिन्दु अनेक आकृतियों में भिन्न-भिन्न नाम रूप धारण करके प्रकट हो रहा है। वृत्त के ही रूप त्रिकोण, चतुर्भुज.... सहस्रभुज आदि हैं। बिन्दु स्वयं अपरिभाष्य या अनिर्देश्य है। इदमाकारतया उसका वर्णन अशक्य है। 'नेति नेति' ही बिन्दु का यथार्थ स्वरूप है।

---

१ केन० २।३ २ ऋ १।१६४।४६॥ ३ ऋ ६।४७।१८॥

विन्दु की ही वैदिक संज्ञा हृदय है । वही प्रजापति है, जिसके लिए कहा जाता है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो वहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा[१] ॥

एक ही वहुधा या अनेकधा प्रतिभासित हो रहा है । उस एक के वीज को अन्तर्चक्षु धीर लोग देख पाते हैं । उस प्रजापति पुरुष के नानाविधात्मक वर्णन के लिए वाणी का अनन्त विस्तार फैला हुआ है । उसी के लिए कहा जाता है :—

ऋषिभिर्वहुधा गीतम्[२] ।

महाभारतकार ने इसी सत्य को अनेक स्थानों पर दुहराया है—

एकधा च द्विधा चैव वहुधा स एव हि ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रशः ॥

महा० अनु० । १६० । ४३ ।

तथा—

स च रुद्रः शिवः सोऽग्निः सर्वः स सर्वजित् ।
स वै चन्द्रश्च वायुश्च सोऽश्विनौ स च विद्युतः ॥
स चन्द्रमाः स चेशानः स सूर्यो वरुणश्च सः ।
स कालः सोऽन्तको मृत्युः स तमो राज्यहानि च ॥
मासार्द्धमासऋतवः सन्ध्ये संवत्सरश्च सः ।
स धाता स विधाता च विश्वकर्मा स सर्ववित् ॥
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव दिशोऽथ विदिशस्तथा ।
विश्वमूर्तिरमेयात्मा भगवानमरद्युतिः ॥

महा० अनु० । १६० । ३६–४२

---

१ यजुः ३१ । १६ ॥ २ गीता १३ । ४७ ॥

महाभारत में असंख्य स्थानों पर इस प्रकार के वर्णन पाए जाते हैं जिनके मूल में वेद के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की ही छाया वर्तमान है।

ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा निरुक्त एवं धर्मशास्त्र आदि साहित्य का साक्ष्य भी इसी के अनुकूल है। यही आर्य-साहित्य की विशेषता है; नाना विभिन्नताओं के होते हुए भी उस में एकता के अन्तर्यामी सूत्र को कभी नहीं भुलाया गया। मैत्रायणी आरण्यक मे इसी सिद्धान्त का इस प्रकार वर्णन है—

"एष त आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविचिकित्सोऽविपाशः सत्यसंकल्पः सत्यकामः। एष परमेश्वर एष भूतादिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः। एष हि खलु आत्मा ईशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृक् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ताऽच्युतो विष्णुर्नारायणः।" मैत्रा० आर० ७। ७।

अर्थात्—यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, संशयरहित, पाशरहित, सत्यसंकल्प और सत्यकाम है। यह परमेश्वर, भूताधिपति, सर्वरक्षक, और सब का धारण करने वाला सेतु है। यही आत्मा, ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शास्ता, अच्युत, विष्णु, नारायण आदिक अनेक नामों से पुकारा जाता है।

उसी ग्रन्थ में कौत्सायनी स्तुति में ऋग्वेद के पूर्वोद्धृत मन्त्र का ही भावानुवाद पाया जाता है—

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः॥

त्वमन्नस्त्वं यमः पृथ्वी त्वं विश्वं त्वमथाच्युतः।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा संस्थितिस्त्वयि॥ मैत्रा०आर०५।१,२

अर्थात्—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, प्रजापति, अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र, प्राण, अन्न, यम, ये सब एक ही परमेश्वर के अनेक नाम हैं।

निरुक्त के परिशिष्ट[1] में महान् आत्मा के अनेक नामों का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि **हंस घर्म यज्ञ वेन आभु शम्भु प्रभु विभु सोम व्योम आप यशः महः भूतभुवन भविष्यत् गहन गम्भीर अन्न हवि ऋतु सत्य ब्रह्म आत्म तप सागर सिन्धु समुद्र वरेण्य इन्दु अमृत इन्द्र सत् तत् यत् किम्** आदि अनेक उसी के नाम हैं। उसको तत्त्वत जानना बड़ा कठिन है। इतने अपरिमित आलोडन के पश्चात् भी पुरुष तत्त्व अद्यावधि अज्ञेय है। इसलिए वेदों ने उसको 'सप्रश्न' (The Great Question) की उपाधि दी है। सृष्टि के अन्त तक यह सप्रश्न इसी प्रकार गहन बना रहेगा, इसके एक अणु का रहस्य भी कभी कोई यथार्थत. नहीं जान पाएगा। समस्त विज्ञानों की यहाँ इतिश्री है।

शान्तिपर्व के नारायणीय अध्यायों में परम पुरुष के अनेक रूप और अनेक नामों का वार-वार वर्णन किया गया है—

यानि नामानि ते देव कीर्तितानि महर्षिभिः।
वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः॥६॥
तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव।
न ह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो॥७॥

भगवान् ने कहा—

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्योतिषेऽर्जुन॥८॥

---

[1] निरुक्त १४।१२॥

सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च ।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥९॥
नमोऽतियशसे तस्मै देहिनां परमात्मने ॥११॥
नारायणाय विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥१२॥
तपो यज्ञश्च यष्टा च पुराणः पुरुषो विराट् ॥१८॥ शान्ति० अ० ३४१

अर्थात्—ऋग्वेदादि शास्त्रों में उस पुरुष के अनेक नाम कहे गए हैं। तप यज्ञ यजमान पुराण और विराट् उसी की सज्ञाएँ हैं।

इसके अनन्तर व्यासजी ने ईश्वर के अनेक वैदिक और पौराणिक नामों की निरुक्तियां बताई हैं। पृश्निगर्भ वैदिक नाम है, उसके सम्बन्ध में लिखा है—

पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेदा आपोऽमृतस्तथा ।
ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥ शान्ति० ३४१ । ४५

इसी के साथ इस वैदिक उपाख्यान का भी उल्लेख किया गया है कि त्रित नामक ब्रह्मा का पुत्र भगवान के पृश्निगर्भ स्वरूप की उपासना से भवकूप से तर गया[1]। यहीं पर दामोदर और केशव की व्युत्पत्ति भी देखने योग्य है—

दमात् सिद्धिं परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति ह ।
दिवञ्चोर्वीञ्च मध्यञ्च तस्माद्दामोदरो ह्यहम् ॥ शान्ति० ३४१ । ४४

अर्थात्—दम के द्वारा द्यु पृथ्वी और मध्यलोक पर सिद्धि प्राप्त करने के कारण भगवान् दामोदर हैं।

इस प्रकार की निरुक्त के मूल में वही सूत्र है जिसके द्वारा इदन्द्र से इन्द्र बना लिया जाता है, यथा—

परोक्षप्रिया वै देवा प्रत्यक्षद्विषः ।

---

1 शान्ति० ३४१ । ४६, ४७ ॥

अर्थात्—दैवी भावों के व्याख्यान में संकेताक्षरों का ही अवलम्बन पर्याप्त है।

केशव के सम्बन्ध में लिखा है—

सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत।
अंशवो यत् प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिता।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ॥ शान्ति० ३४१। ४८,४६

अर्थात्—सूर्य, अग्नि, सोम की रश्मियां ही केश हैं, जिनके कारण भगवान् केशव या केशी कहे जाते हैं। "त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते" (ऋ० १।१६४।४४) मन्त्र में 'केशिन' पद का अर्थ अग्नि वायु आदित्य[1] किया जाता है। वे अपने केशों अर्थात् सर्वत्र व्याप्त रश्मि-जालों से सब लोकों का नियन्त्रण करते हैं। इन्हीं तीन ज्योतियों से तीन लोक—पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ प्रकाशित रहते हैं।

महाभारत के इसी नारायणीय प्रकरण में एक अति विचित्र महापुरुष स्तोत्र दिया हुआ है (शान्ति० ३३८) जिसका पारायण नारद जी ने श्वेत द्वीप के चन्द्रमा के समान श्वेत रंग वाले मनुष्यों के सामने किया था—

नमस्ते देवदेवेश निष्क्रिय लोकसाक्षिन् क्षेत्रज्ञ पुरुषोत्तम अनन्तपुरुष महापुरुष त्रिगुणप्रधान अमृतव्योम सनातन सदसद्-व्यक्ताव्यक्त ऋतधामन् आदिदेव वसुप्रद प्रजापते सुप्रजापते वनस्पते महाप्रजापते ऊर्ज्जस्पते वाचस्पते जगत्पते मनस्पते दिवस्पते मरुत्पते सलिलपते पृथिवीपते दिक्पते पूर्वनिवास गुह्य ब्रह्मपुरोहित ब्रह्मका-यिक महाराजिक चातुर्म्महाराजिक आभासुर महाभासुर सप्तमहाभाग्य याम्य महायाम्य संज्ञासंज्ञ तुषित महातुषित प्रमर्दन परिनिर्मित अपरि-निर्म्मित अपरिनिन्दित अपरिमित वशवर्तिन् अवशवर्तिन यज्ञ महायज्ञ यज्ञसम्भव यज्ञयोने यज्ञगर्भ यज्ञहृदय यज्ञस्तुत् यज्ञभागहर पञ्चयज्ञ

---

१ निरुक्त० १२। २७॥

पञ्चकालकर्तृपते पञ्चरात्रिक वैकुण्ठ अपराजित मानसिक नामनामिक परस्वामिन् सुस्नात हंस परमहंस महाहस परमयाज्ञिक सांख्ययोग सांख्यमूर्ते अमृतेशय हिरण्येशय कुशेशय देवेशय ब्रह्मेशय पद्मेश विशेश्वर विष्वक्सेन ।

इतने आर्षभावाप्लुत सम्बोधनो अनन्तर नारदजी कहते हैं—

त्वं जगदन्वयः त्वं जगत्प्रकृतिः तवाग्निरास्यं वडावामुखोऽग्निः त्वमाहुतिः सारथिः त्वं वषट्कारः त्वमोङ्कार त्वं तपः त्वं मनः त्वं चन्द्रमाः त्वं चक्षुराज्यं त्वं सूर्यः त्वं दिशां गजः त्वं दिग्भानुः ।

फिर उसी प्रकार के सम्बोधनों द्वारा भगवान् की स्तुति है—

प्रथमत्रिसौपर्ण पञ्चाग्ने त्रिणाचिकेत षडङ्गनिधान प्राग्ज्योतिष ज्येष्ठसामग सामिकव्रतधर अथर्वशिरः पञ्चमहाकल्प वालखिल्य प्राचीनगर्भ कौशिक पुरुष्टुत पुरुहूत विश्वकृत विश्वरूप अनन्तगते अनन्तभोग अनन्त अनादि अमध्य अव्यक्तमध्य अव्यक्तनिधन व्रतावास समुद्राधिवास यशोवास तपोवास दमावास लक्ष्म्यावास विद्यावास कीर्त्यावास श्रीवास सर्वावास वासुदेव सर्वच्छन्दक यम नियममहानियम कृच्छ्र महाकृच्छ्र सर्वकृच्छ्र प्रवचनगत पृश्निगर्भप्रवृत्त प्रवृत्तवेदक्रिय अज सर्वगते सर्वदर्शिन् अग्राह्य अचल महाविभूते माहात्म्यशरीर पवित्र महापवित्र हिरण्मय बृहत् अप्रतर्क्य अविज्ञेय वरद विश्वमूर्ते महामूर्ते भक्तवत्सल ब्रह्मण्यदेव ।

भक्तोऽहं त्वां दिदृक्षुरेकान्तदर्शनाय नमो नमः ।

ऋग्वेद के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के बहुधा शब्द का ही यह अनन्त प्रपञ्च, उत्तरवर्त्ती साहित्य में पल्लवित हुआ है। वेदव्यास ने अपनी आर्ष प्रतिभा से वेदार्थ का ही व्याख्यान इन नाना नामों द्वारा किया है।

शांति-पर्व (अ० ४७) में एक दूसरा स्तोत्र है, जिसका नाम भीष्मस्तवराज है।

मृत्यु से पूर्व भीष्म जी इसका पाठ करके सनातन-पुरुष का ध्यान करते हुए गद्गद् हो गये थे—

शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् ॥
युक्त्वा सर्वात्मनात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥१७॥

अनाद्यनन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ॥
एकोऽयं वेदभगवान् धाता नारायणो हरिः ॥१८॥

यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥२१॥

यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ॥२२॥

हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम्।
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ॥
प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठञ्च स्थवीयसाम ॥
गरीयसां गरिष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च श्रेयसामपि ॥
यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च ॥
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥
यस्मिन्नित्यं तपस्तप्तं तदङ्गेष्वनु तिष्ठति।
सर्वात्मा सर्ववित् सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥२७॥
यमाहुर्जगतः कोपं यस्मिन्सन्निहिताः प्रजाः।
यस्मिन् लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा ॥३३॥

पञ्चकालकर्तृपते पञ्चरात्रिक वैकुण्ठ अपराजित मानसिक नामनामिक परस्वामिन् सुस्नात हंस परमहंस महाहंस परमयाज्ञिक सांख्ययोग सांख्यमूर्ते अमृतेशय हिरण्येशय कुशेशय देवेशय ब्रह्मेशय पद्मेश विशेश्वर विष्वक्सेन ।

इतने आर्षभावाप्लुत सम्बोधनों अनन्तर नारदजी कहते हैं—

त्वं जगदन्वयः त्वं जगत्प्रकृतिः तवाग्निरास्यं वडवामुखोऽग्निः त्वमाहुतिः सारथिः त्वं वषट्कारः त्वमोङ्कार त्वं तपः त्वं मनः त्वं चन्द्रमाः त्वं चक्षुराज्यं त्वं सूर्यः त्वं दिशां गजः त्वं दिग्भानुः ।

फिर उसी प्रकार के सम्बोधनों द्वारा भगवान् की स्तुति है—

प्रथमत्रिसौपर्ण पञ्चाग्ने त्रिणाचिकेत षडङ्गनिधान प्राग्ज्योतिष ज्येष्ठसामग सामिकव्रतधर, अथर्वशिरः पञ्चमहाकल्प वालखिल्य प्राचीनगर्भ कौशिक पुरुष्टुत पुरुहूत विश्वकृत विश्वरूप अनन्तगते अनन्तभोग अनन्त, अनादि अमध्य अव्यक्तमध्य अव्यक्तनिधन व्रतावास समुद्राधिवास यशोवास तपोवास दमावास लक्ष्म्यावास विद्यावास कीर्त्यावास श्रीवास सर्वावास वासुदेव सर्वच्छन्दक यम नियम महानियम कृच्छ्र महाकृच्छ्र सर्वकृच्छ्र प्रवचनगत पृश्निगर्भप्रवृत्त प्रवृत्तवेदक्रिय अज सर्वगते सर्वदर्शिन् अग्राह्य अचल महाविभूते माहात्म्यशरीर पवित्र महापवित्र हिरण्मय बृहत अप्रतर्क्य अविज्ञेय वरद विश्वमूर्ते महामूर्ते भक्तवत्सल ब्रह्मण्यदेव ।

भक्तोऽहं त्वां दिदृक्षुरेकान्तदर्शनाय नमो नमः ।

ऋग्वेद के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के बहुधा शब्द का ही यह अनन्त प्रपञ्च उत्तरवर्त्ती साहित्य में पल्लवित हुआ है। वेदव्यास ने अपनी आर्ष प्रतिभा से वेदार्थ का ही व्याख्यान इन नाना नामों द्वारा किया है।

शान्ति-पर्व (अ० ४७) में एक दूसरा स्तोत्र है, जिसका नाम भीष्मस्तवराज है।

मृत्यु से पूर्व भीष्म जी इसका पाठ करके सनातन-पुरुष का ध्यान करते हुए गद्‌गद हो गये थे—

शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् ॥
युक्त्वा सर्वात्मनात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥१७॥
अनाद्यनन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ॥
एकोऽयं वेदभगवान् धाता नारायणो हरिः ॥१८॥
यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च ।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥२१॥
यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ॥२२॥
हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम् ।
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ॥
प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठञ्च स्थवीयसाम् ॥
गरीयसां गरिष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च श्रेयसामपि ॥
यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च ॥
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥
यस्मिन्नित्यं तपस्तप्तं तदङ्गेष्वनु तिष्ठति ।
सर्वात्मा सर्ववित् सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥२७॥
यमाहुर्जगतः कोषं यस्मिन्सन्निहिताः प्रजाः ।
यस्मिन् लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा ॥३३॥

ऋतमेवाक्षरं ब्रह्म यत्तत् सदसतोः परम् ।
अनादिमध्य पर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ॥३४॥
यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम् ।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥३७॥

इसके अनन्तर लगभग पचास श्लोकों में भगवान् के नाना रूपों का वर्णन किया गया है। उस अति पवित्र वाग्यज्ञ का कुछ आभास पाठकों की तृप्ति के लिये यहाँ दिया जाता है—

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितिर्दैत्यनाशनम् ।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥३८॥
शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः ।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥३९॥
महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥४०॥

इस श्लोक में—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

इस मन्त्र का ही अनुवाद है।

यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे ।
यं विप्रसङ्घाः गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥४१॥
ऋग्यजुःसामधामानं दशार्द्धहविरात्मकम् ।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥४२॥
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः ॥४३॥

य: सुपर्णो यजुर्नाम छन्दोगात्रस्त्रिवृच्छिराः ।
रथन्तरं बृहत् साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥४४॥
यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः ।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥४५॥

अर्थात्—ब्रह्माजी के सहस्रों संवत्सर पर्यन्त सृष्टि यज्ञ में जो हिरण्य के पक्ष वाला सुपर्ण उत्पन्न हुआ, उस हंस स्वरूप को प्रणाम है।

यह हंस आत्मा वा प्राण है। इसी सुपर्ण का वर्णन अनेक प्रकार से वेद मन्त्रों में आया है। अग्नि भी इसी सुपर्ण का नाम है। उपरोक्त (पृ० १६,१७) मैत्री उपनिषद् और निरुक्त के उदाहरण के अनुसार आत्मा ही अग्नि सुपर्ण हंस प्राण आदिक नाम वाला है। त्रिगुणों से परिवेष्ठित इस शरीर में व्याप्त आत्मा का महान् आत्मा के साथ दिव्य सम्बन्ध कराने के लिए चित्याग्नि के अभिषेक के बाद अग्नि योजना की क्रिया का विधान है। यजुर्वेद के उस प्रकरण [अध्याय १८ मन्त्र ५१-५३] में हिरण्यपक्ष शकुनि का बहुत ही मनोहर रूपक है। आत्मा एक पक्षी है। जन्म और मृत्यु, अमृत और मृत्यु, व्यक्त और अव्यक्त, त्रिपाद् और एकपाद्, ये उसके दो पक्ष हैं। शकुनि का अर्थ प्राण लेनेपर प्राण और अपान रूप दो पक्ष होते हैं। सूर्य वाची सुपर्ण के उदय और अस्त दो पक्ष कहे गए हैं। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में स्पष्ट ही **प्राणो वै सुपर्णः** तथा **प्राणो वै पतंगः** (३।३५।२) ये परिभाषाएँ दी हुई हैं। इस प्रकार आत्मा की सुपर्ण संज्ञा बहुत ही प्राचीन है और वैदिक परिभाषा में बहुत व्यापक थी। उत्तरवर्ती साहित्य में आत्मा को हंस कहा गया है। अतएव ऊपर जिस हंस या सुपर्ण को प्रणाम किया गया है, उसी के लिए यजुर्वेद (१८।५३) में कहा है—

यस्मात्सर्वे प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥६१॥
यो निषण्णोऽभवद्रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः ।
इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्ट्रात्मने नमः ॥६२॥
अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्थमुद्यतम् ।
वैकुण्ठस्य च तद्रूपस्तस्मै कार्यात्मने नमः ॥६३॥
त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मव्युत्क्रांतगौरवम् ।
क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः ॥६४॥
विभज्य पञ्चधात्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः ।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥६५॥
युगेष्वावर्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनैः ।
सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥६६॥
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥६७॥
यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥६८॥
परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥६९॥
विषये वर्तमानानां यन्तं वैशेषिकैर्गुणैः ।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोपात्मने नमः ॥७०॥

अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धनः ।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥७१॥
प्राणानां धारणार्थाय योऽन्नं भुङ्क्ते चतुर्विधम् ।
अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः ॥७२॥
पिङ्गेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम् ।
दानवेन्द्रान्तमरणं तस्मै दृप्तात्मने नमः ॥७३॥
रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान् विभुः ।
जगद्धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥७५॥
यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः ॥७६॥
आत्म-ज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम् ।
यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥७७॥
अप्रमेयशरीराय सर्वतो बुद्धिचक्षुषे ।
अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥७८॥
सर्वभूतात्मभूताय भूतादि निधनाय च ।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शांतात्मने नमः ॥७९॥

इसी प्रदीप्त प्रकरण के दो श्लोक अत्यन्त ही भव्य हैं—

यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः ।
तत्त्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः ॥७४॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वः सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥८३॥

सूक्ष्मात्मा अणु से भी अणीयान् है, वही सर्वात्मा प्रजापति है, उसी की उपासना के लिये समस्त ज्ञान विज्ञान दर्शन अध्यात्म तथा काव्य-साहित्य के सहस्रों रश्मिसूत्र वितत हैं। यजुर्वेद (अ० ३२) में कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥१॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥२॥
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा
यस्मान्न जात इत्येषः ॥३॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥४॥

इस प्रकरण को तदेव उपनिषद् कहा गया है। इस में समस्त श्रुतियो का रहस्य दिया हुआ है। वही अग्नि, वही आदित्य, वही चन्द्रमा, वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही परमेष्ठी प्रजापति है। ऊपर नीचे वीच में कोई उसे बुद्धि के बन्धन में नहीं ला सका। उसी विद्योतमान पुरुष से काल और निमेष निकले हैं। वही देव सब दिशा प्रदिशाओं में व्याप्त है। वही पहले उत्पन्न हुआ वही आगे उत्पन्न होगा, प्रत्येक मनुष्य में विश्वतोमुख स्वरूप से वही व्याप्त है।

—

इसी की महिमा महाभारत के अनुशासन-पर्व (अ० १५८) के निम्न श्लोकों में कही गई है—

स वत्सरः स ऋतुः सोऽर्धमासः, सोऽहोरात्रः स कला वै स काष्ठाः।
मात्रा मुहूर्ताश्च लवाः क्षणाश्च, विश्वक्सेनः सर्वमेतत् प्रतीहि ॥
वायुर्भूत्वा विक्षिपते च विश्वमग्निर्भूत्वा दहते विश्वरूपः ।
आपो भूत्वा मज्जयते च सर्वं ब्रह्मा भूत्वा सृजते सर्वसङ्घान् ॥
ज्योतिर्भूतः परमोऽसौ पुरस्तात् प्रकाशते यत्प्रभया विश्वरूपः ।
अपः सृष्ट्वा सर्वभूतात्मयोनिः पुराकरोत् सर्वमेवाथ विश्वम् ॥
स पञ्चधा पञ्चजनोपपन्नं सञ्चोदयन् विश्वमिदं सिसृक्षुः ।
सतश्चकारावनिमारुतौ च खं ज्योतिरापश्च तथैव पार्थ ॥
तमध्वरे शंसितारस्स्तुवन्ति रथन्तरे सामगाश्च स्तुवन्ति ।
तं ब्राह्मणा ब्रह्ममन्त्रैः स्तुवन्ति तस्मै हविरध्वर्यवः कल्पयन्ति ॥
तं घोषार्थे गीर्भिरिन्द्राः स्तुवन्ति स चापीशो भारतैकः पशूनाम् ।
स पौराणीं ब्रह्मगुहां प्रविष्टो महीसत्रं भारताग्रे ददर्श ॥
तस्यान्तरिक्षं पृथिवी दिवञ्च सर्वं वशे तिष्ठति शाश्वतस्य ।
स कुम्भरेतः ससृजे सुराणां यत्रोत्पन्नमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥
स मातरिश्वा विभुरश्ववाजी स रश्मिवान् सवितः चादिदेवः ।
तेनासुरा विजिताः सर्व एव तद्विक्रान्तैर्विजितानीह त्रीणि ॥
स देवानां मानुषाणां पितॄणां तमेवाहुर्यज्ञविदां वितानम् ।
स एव कालं विभजन्नुदेति तस्योत्तरं दक्षिणञ्चायने द्वे ॥
तस्यैवोर्ध्वं तिर्यगधश्चरन्ति गभस्तयो मेदिनीं भासयन्तः ।
तं ब्राह्मणा वेदविदो जुषन्ति तस्यादित्यो भामुपयुज्य भाति ॥

के जीवन के ये शाश्वत मन्त्र हैं। जहाँ प्रथम 'द' के अर्थों में जागरूक श्रद्धा रहती है, वहीं शान्ति ध्रुव रूपेण विराजती है। जब भी कभी हम आत्मिक शान्ति के लिए प्रयत्न करेंगे, प्रजापति के प्रथम उपदेश को जानना ही पडेगा।

असुरों के लिए प्रजापति की वाक् क्या कहती है—

द—दयध्वम्

दया की उपासना करो। हिंस्र-प्रवृत्तियो का दमन करो, रक्त-पिपासा का सयम करो। हिंसा, युद्ध, भीषण अशान्ति के कारण हैं। आज तो चारो ओर लड़ाई की भेरी बज रही है। दाँत पीस-पीम कर सैनिक जंग के लिए कमर कस रहे हैं। एक हाथ में नगी तलवार लेकर मुख से शान्ति का मन्त्र उच्चारण करने से शान्ति कभी होगी? सच्ची शान्ति के लिए प्रजापति के अर्थों को मानना ही पड़ेगा। इस उपदेश को हम चाहे, आज सुनें, चाहे दस बरस बाद सुनें, पर उसको बिना सुने गति नहीं।

समाज की जो विषमताएँ हैं, जिन के कारण पारस्परिक कलह मचा हुआ है, उनको दूर करने का यदि कोई उपाय है, तो प्रजापति का तीसरा उपदेश—

द—दत्त

दान दो, बाँट कर खाओ, सचय मत करो, वितरण का पाठ पढ़ो। धन और उपयोग की सामग्री सब को प्रिय लगने वाली हैं। उनको अपने लिए ही चाहना स्वार्थ है। सब के साथ बाँट कर उनको भोग करना सुख-मूलक है। पुंजीपति और मजदूरों के झगड़े की बुनियाद क्या है, जमींदार और किसान का सघर्ष क्यों है, धनिकों में आपस में रगड़ा क्यों है? इसलिए कि सब अकेले ही धन का भोग चाहते हैं। दान-यज्ञ की भावना नष्ट होगई है। मनुष्य जब तक उदार हृदय से धन का व्यवहार करते हैं, शान्ति से

फूलते-फलते हैं। वे ही जब आपस-धापा मचाते हैं, तब अशान्ति उत्पन्न होती है। समाज की व्यवस्था चाहे जैसी बनाइए, केवल उसी से पारस्परिक द्वन्द्व नहीं मिट सकता। मनुष्यों के हृदयो में औदार्य होना चाहिए।

जैसे शस्त्रो की सीमा बाँधने से युद्ध की शान्ति नहीं हो सकती, उसके लिए "दयध्वम्" की भावना चाहिए। ठीक वैसे ही व्यक्ति के धन की सीमा बनाने से आर्थिक शान्ति नहीं हो सकती, उस के लिए मनुष्यों में बाँट कर खाने का भाव या उदार आशयता होनी चाहिए।

प्रजापति विश्वव्यापी शक्ति है, उसकी वाक् भी विश्वव्यापी है। उस वाक् के सकेत **दम, दया और दान** भी सब देश और सब कालों के लिए हैं।

द—दाम्यत

द—दयध्वम्

द—दत्त

[देखो—बृहदारण्यक उपनिषद ५।२।१–३]

६—ब्रह्म-पुरी

दों और उपनिषदों में इस शरीर को ब्रह्मपुरी कहा गया है। इस पुरी में वसने के कारण ही ब्रह्म की संज्ञा पुरुष कही जाती है—

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः
सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवा३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥

अथर्व० १०।२।२८

अर्थात्—ऊपर और नीचे, त्रिपाद् और एक पाद् में, अमृत और मर्त्य में, सर्वत्र पुरुष की ही सृष्टि है; सब दिशाओं में पुरुष ही अभिव्याप्त है। जो उस ब्रह्म की पुरी को जानता है, जिसके कारण ब्रह्म की संज्ञा पुरुष होती है, वह अमृतत्त्व को पाता है। पुरी में वसने के कारण पुरुष कहा जाता है। पुरि शयात् पुरुष यह निरुक्ति भी ब्राह्मणों में दी हुई है। यह समस्त विश्व या अनन्त ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म की ही रचना है। विश्व क्षर ब्रह्म है, पुरुष अक्षर ब्रह्म है। अक्षर ब्रह्म से क्षर ब्रह्म की उत्पत्ति है। इन लोको को रचकर वह स्वयं इन में प्रविष्ट हो रहा है। ब्रह्म से व्यतिरिक्त कुछ नहीं है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्[1]

---

१. यजु ३१।२॥

उस पुरुष के दो भाग हैं, अमृत भाग और अन्न भाग। अमृत भाग अक्षर कहलाता है, वह अविनाशी है, नित्य है। अन्न क्षर कहा जाता है, वह नश्वर, अनित्य या परिवर्तनशील है। जितनी सृष्टि या जितने ब्रह्माण्ड निकाय हैं, सब अन्न भाग हैं, उनके लिये कहा गया है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि[1]॥

अर्थात्—कोटानुकोटि ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म की महिमा है, सब विश्व उसके एक पाद में हैं। स्वयं पुरुष या ब्रह्म समस्त ब्रह्माण्डों से बड़ा है। उसका त्रिपाद् भाग अमृत है। वही द्युलोक में या ऊपर है।

इस प्रकार ब्रह्म या पुरुष के क्षर और अक्षर दो सापेक्ष भाग हैं, जिनकी विविध कल्पनाएँ नीचे की तालिका से स्पष्ट हो सकती हैं—

(१) अमृत, अक्षर, ऊर्ध्व, त्रिपाद्, अन्नाद या अमृत, अनन्त पुरुष।

(२) मर्त्य, क्षर, अध, एकपाद्, अन्न या मर्त्य भाग, महिमा भाग, या विश्व भूत।

इस प्रकार अक्षर और क्षर, अमृत और मर्त्य दोनो अविना-भूत हैं, एक दूसरे से मिले हुए हैं। इस क्षर भाग को ही पुर कहा जाता है। इस पुरी में बसने वाला अक्षर ही पुरुष है। यह पुरी चारों ओर अमृत से ढकी हुई है, इसका आधार अमृत है। जैसा कहा है—

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥

---

१. यजु॰ ३१। ३॥

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥

अथर्व० १० । २ । २६, ३० ॥

अर्थात् - सर्वतः अमृत से परिपूर्ण इस ब्रह्मपुरी को ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं । आत्मज्ञानी महात्मा लोग ब्रह्मवेत्ता होते हैं, उन्हीं को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । वे इस शरीररूपी क्षेत्र को और इसके भीतर रहने वाले क्षेत्रज्ञ पुरुष को समाधि के द्वारा अनुभव में लाते हैं—

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ।[1]

उनके प्राण और इन्द्रियाँ आयुपर्यन्त अक्षीण तेज वाले रहते हैं, उन में मृत्यु का सम्पर्क नहीं हो पाता । महर्षि पिप्पलाद ने गार्ग्य को बताया था कि इस नगरी में प्राणरूपी अग्नियाँ निरन्तर प्रज्वलित रहती हैं—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति (प्रश्न उ० ४ । ३ ॥

वे प्राण की अग्नियाँ कौन-सी हैं ? बाहर जो कर्मकाण्ड के अनुसार वैध-यज्ञ किया जाता है, उसी के अनुरूप अध्यात्मयज्ञ इस देह में भी चल रहा है । जैसा कि कहा है—

पुरुषो वाव यज्ञः[2]

अत एव बाह्य अग्नित्रय का शरीर के भीतर निम्नलिखित परिचय भगवान् पिप्पलाद ने बताया था—

१ गार्हपत्य = अपान = उदर स्थानीय ।

२ दक्षिणाग्नि = व्यान = हृदय स्थानीय ।

३ आहवनीय = प्राण = मुख स्थानीय ।

कठ उपनिषद् में भी इस शरीर को ग्यारह दरवाजों वाला पुर कहा गया है—

---

१ कुमार सम्भव ३ । ५० ॥

२ पुरुषो वै यज्ञ. । छां० १७ । ७ ॥ शत० १ । ३ । २ । १ ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥
एतद्वैतत्

अर्थात्—अज पुरुष की यह एकादश द्वारों वाली पुरी है । अवक्रचित्त से जो इसमें निवास करता है, वह शोक को प्राप्त नहीं होता, तथा शरीर के छूटने पर मुक्त हो जाता है । देखो, यही वह अमृत पुरुष है ।

चित्त एक काच के तुल्य है । वक्र काच में सूर्य का प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ता । ऋजु या सीधे दर्पण में सूर्य-रश्मियां यथार्थ प्रतिबिम्ब डालती हैं । इसी प्रकार अवक्रचेता पुरुष में ब्रह्म का तेज भी सीधा ही गृहीत होता है । इसी कारण उस पुरी में ब्रह्म-प्रकाश जगमगाता रहता है ।

इस प्रकार ऋषियो ने अध्यात्म-ज्ञान की आनन्दमयी दशा में ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मपुरी के विलक्षण सम्बन्धों का गान किया है । इनके नित्य अमृत-संदेश को मुमुक्षु जन सुनते रहते हैं । जो महात्मा इस ब्रह्मपुरी में रस से तृप्त होकर बसते हैं, उन्हीं को शान्ति और आनन्द मिलता है । वह आत्मतत्त्व स्वयं रसरूप है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
अथर्व० १०।८।४४॥

उस रस स्वरूप ईश्वर का साक्षात्कार सब से उत्कृष्ट मधु है । उपनिषदों में उस ज्ञान को मधु विद्या कहा गया है । उस मधु या सोम का आस्वादन कर लेने पर मनुष्य सचमुच अकाम हो जाता है, और मृत्यु के भय से पार हो जाता है ।

७—वैदिक परिभाषा में शरीर की संज्ञाएँ

वेद भारतीय ज्ञान के अक्षय कोष हैं। उनमें क्रान्तदर्शी ऋषिओं के अध्यात्म अनुभवो का बहुत ही उत्कृष्ट काव्यमय वर्णन पाया जाता है। उस काव्य की परिभाषाएँ अनेक उपाख्यान और सुन्दर रूपकालाङ्कारों के द्वारा प्रकट की गई हैं। अध्यात्म-ज्ञानी लोग प्राय सर्वत्र ही रहस्यपूर्ण अनुभवों को शब्दो में व्यक्त करने के लिये इसी विलक्षण व्यञ्जनाप्रधान शैली का आश्रय लिया करते हैं। लौकिक काव्य के निर्माता सन्त कवियों ने भी शरीर को चादर, चर्खा, सरोवर आदि अनेक नाम देकर मनोहर रूपकों के द्वारा उसका वर्णन किया है। कबीरदासजी ने अपने अध्यात्म अनुभवों को व्यक्त करते हुए निम्नलिखित भजन में इसी शैली का अवलम्बन किया था —

झिनि झिनी झिनि झिनी बीनी चदरिया ॥
आठ कमल दस चरखा डोलै पाँच तत्त गुण तीनी चदरिया।
साँई को सियत मास दस लागे ठोंक ठोंक कर बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि के मैली कीन्ही चदरिया।
दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया॥

यहाँ शरीर का रूपक चादर की दृष्टि से बाँधा गया है। यह देह एक वस्त्र है, जिसके निर्माण में विधाता के बहुत बड़े कौशल का परिचय

चय मिलता है। गीता आदि शास्त्रों में भी इस मानवी देह की तुलना वस्त्रों से की गई है। इस परिभाषा को ठीक न जानकर कबीर के उपर्युक्त पद का कोई भी ठीक अर्थ नहीं जान सकता। उसके तथा अन्य कवियों के सैकड़ों परिभाषात्मक शब्द इसी प्रकार के हैं।

वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में तो इस प्रकार के रूपक और भी अधिक सख्या में पाए जाते हैं। वहाँ परिभाषाओं के अज्ञान से अर्थों में बहुत अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, यही कारण है कि अनेक यूरूपीय विद्वान् तथा उनके अर्थ को मानकर चलने वाले भारतीय पण्डित भी वैदिक मन्त्रों के वास्तविक अभिप्राय से कोसो दूर रहते हैं। उदाहरण के लिए 'क्षेत्र' शब्द को ले सकते हैं। अध्यात्म विद्या के ग्रन्थों में 'क्षेत्र' शब्द शरीर का पर्यायवाची माना जाता है। भगवद्गीता में इसी परिभाषा को स्पष्ट कर दिया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ अ० १३।१॥

अर्थात् हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। जो इसे जानते हैं, उन्हें तत्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥२॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृण॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥४॥
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

अर्थात्—हे भारत! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, यही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है।

क्षेत्र क्या है, वह किस प्रकार का है, उसके कौन-कौन विकार हैं, (उसमें भी) किससे क्या होता है, ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है, उसे मैं सक्षेप से बतलाता हूं, सुन।

ऋषियों ने अनेक प्रकार से छन्दो में इसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का गान किया है। और ब्रह्मसूत्रों में भी हेतुवाद की दृष्टि से इसी विचार का निश्चय किया गया है।

पृथ्वी आदि पाँच स्थूल महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महतत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति), दस (सूक्ष्म) इन्द्रिया और एक मन, तथा इन्द्रियों के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, सघात, चेतना, अर्थात् प्राण-व्यापार और धृति, इस समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

इस प्रकार गीता-शास्त्र में युक्ति और विस्तार से शरीर की क्षेत्र-सज्ञा का निरूपण किया है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि "क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का यह विचार वस्तुतः इससे भी बहुत पूर्वकाल का था—'ब्रह्म-सूत्र' के दूसरे अध्याय में, तीसरे पाद के पहले १६ सूत्रों में क्षेत्र का विचार और फिर उस पाद के अन्त तक क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है। ब्रह्म-सूत्र में यह विचार है, इस लिए उन्हें 'शारीरक सूत्र' अर्थात्-- शरीर या क्षेत्र का विचार करने वाले सूत्र भी कहते हैं।" (गीता-रहस्य पृ० ७८३)

वैदिक मन्त्रों में भी 'क्षेत्र' शब्द इस अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्व वेद में कहा है—

स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राजं।[1]

---

१ अथर्व० ११ । १ । २२ ॥

अर्थात्--अपने क्षेत्र में अनामय होकर रहो। यह क्षेत्र किसी भी दैहिक, या अध्यात्मिक व्याधि से क्लिष्ट न हो। दैहिक दैविक, भौतिक ताप ही अमीव या व्याधियाँ हैं, जिनसे क्षेत्रज्ञ या प्राणी संतप्त रहते हैं। तुलसीदासजी ने कहा है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहि काहुहि व्यापा॥

इस व्याधिशून्य स्थिति को जब मनुष्य प्राप्त कर लेता है, तभी वह अनमीव क्षेत्र में समाधि की ओर अग्रसर होता है।

एक अन्य स्थान पर कहा है—

शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः। अथर्व १६।१०।१०॥

अर्थात्—हमारे क्षेत्र का स्वामी या क्षेत्रपति शम्भु या कल्याणकर हो।

यह क्षेत्रपति क्षेत्रज्ञ ही है। सब मनुष्यों का नित्यप्रति यही शिव-संकल्प होना चाहिए कि हमारा क्षेत्रपति शम्भु हो और हमारा क्षेत्र निरामय और निर्विकार रहे।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में क्षेत्र शब्द अपने अध्यात्म अर्थ में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रयुक्त हुआ है।

अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्तुतिं विदन्त्यञ्जसीनाम्॥
१०।३२।७॥

अर्थात्—अक्षेत्रविद् क्षेत्रविद् से अध्यात्मज्ञान के विषय में प्रश्न करता है। वह ज्ञानी क्षेत्रज्ञ उस आत्म-विद्या में उसका अनुशासन करता है। उसका उपदेश उभयथा कल्याणकारी होता है, जिससे सर्वत्र उनकी प्रशंसा होती है।

गीता का क्षेत्रज्ञ ही ऋग्वेद का क्षेत्रविद् है—

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥[1]

बौद्ध-ग्रन्थों में आया है कि भगवान् बुद्ध ने भी एक बार भारद्वाज ब्राह्मण से, जो खेती करता था, आध्यात्मिक कृषि का निरूपण किया था। उसमें श्रद्धा बीज, तप वृष्टि और प्रज्ञा हल है। काय सयम, वाक् सयम और आहार सयम कृषि-क्षेत्र की मर्यादाएँ हैं। पुरुषार्थ बैल है, मन जोत है। इस प्रकार की कृषि से अमृतत्व का फल मिलता है—

एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला।

एतं कसी कसित्वान सब्ब दुक्खापमुच्चति ॥

पाणिनि के 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' (५। २। ९२) सूत्र में परक्षेत्र का अर्थ जन्मान्तर या शरीरान्तर लिया गया है। कालिदासादि कवियों ने भी 'क्षेत्र' शब्द को अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त किया है—

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्।

अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ॥

अथवा—

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्।

कुमारसम्भव, ३। ५० ॥

रथ

वैदिक साहित्य में शरीर की एक सज्ञा 'रथ' भी है। यजुर्वेद के मन्त्रों में देवरथ का वर्णन किया गया है—

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं

मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।

---

१ गीता १३। १ ॥

समां नो हव्यदातिं जुषाणो
देवरथ प्रति हव्या गृभाय ॥ १९।५४॥

अर्थात्—हे दिव्य रथ! तुम इन्द्र के वज्र, मरुद्गण या प्राणों के मुख, मित्र के गर्भ और वरुण की नाभि हो। तुम प्रीतिपूर्वक हमारी हवियों को स्वीकार करो।

दूसरे मन्त्रों में रथ के रूपक का और भी स्पष्टता से वर्णन है—

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो
यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानां पनायत
मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥ यजु० १६।४३॥

अर्थात्—सुन्दर सारथि रथ में बैठकर जहाँ-जहाँ चाहता है, घोड़ों को हांक ले जाता है। उन बागडोरों की महिमा को देखो, जिनको पीछे से सकल्पवान् मन प्रेरित कर रहा है।

यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में शरीर और रथ के रूपक की इस प्रकार व्याख्या पायी जाती है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः[1]॥

अर्थात्—शरीर-रूपी रथ में आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े और विषय उनके विचरने के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा भोग करने वाला है। जो प्रज्ञासम्पन्न होकर सकल्पवान् मन से स्थिर इन्द्रियों को सुमार्ग में

१ कठोप० १।३।३,४॥

प्रेरित करता है, वही मार्ग के अन्त तक पहुँचता है, जहाँ से फिर आने-जाने का प्रपञ्च नहीं रहता।[1]

विज्ञानवान् होने के लिए वेद के शब्दो में सदा यही शुभकामना करनी उचित है कि हे इन्द्र, सदा हमारे रथी विजय-शील होवें—

अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु।

रथ में बैठने वालो की कभी पराजय न हो।

इन्द्रियों के देवासुर सग्राम में उनके विजय की दुन्दुभी बजती रहे।

देवपुरी

अथर्ववेद में इस शरीर को देवपुरी कहा गया है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ १०।२।३१

अर्थात्—यह शरीर जिसमें आठ चक्र और नौ (इन्द्रिय) द्वार हैं[2], देवपुरी अयोध्या है। इसमें ज्योति से पूर्ण स्वर्ण का कोष(=मस्तिष्क) है, जिसे स्वर्ग कहते हैं।

मस्तिष्क को घट या स्वर्ग कहा गया है। मस्तिष्क ही सोम-पूरित द्रोण-कलश या अमृत-कुम्भ है। कालिदास ने भी मन को नवद्वारों वाला कहा है—

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मान्यवलोकयन्तम्॥

कुमारसम्भव ३।५०

अर्थात्—शिवजी नवों इन्द्रिय-द्वारों से बाहर विचरने वाली चित्त-वृत्तियों का निरोध करके समाधिवश्य मन की स्थिति से अक्षर ब्रह्म का आत्मा में ही दर्शन कर रहे थे।

---

१ ऋ० ६।४७।३१॥

२. दो आँखें, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा, एक उपस्थ। तुलना करो—नवद्वारे पुरे देही। श्वेता० उ० ३।१८॥ गीता ५।१३॥

इन नौ द्वारों में एक और विद्दति-द्वार जोड़ देने से कहीं-कहीं पर दस द्वारो की गणना की जाती है—

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत।
सैषा विद्दतिर्नाम द्वाः। ऐ० उ० १।३।१२

अर्थात्—कपालों के ऊपर जो जोड़ है, वही सीमा है; उस सीमा को विदीर्ण करके आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया, इसी लिए वह द्वार विद्दति-द्वार कहलाया।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में लिखा है—

तं वागेव भूत्वाऽग्निः प्राविशन्मनो भूत्वा चन्द्रमाश्चक्षुर्भूत्वाऽऽदित्यश्श्रोत्रम्भूत्वा दिशः प्राणो भूत्वा वायुः। एषा दैवी परिषद्, दैवी सभा, दैवी संसत्। जै० उ० २।११।१२ १३॥

(१) दैवी परिषद्
(२) दैवी सभा
(३) दैवी ससद्

क्योंकि इस में निम्न देवताओं का वास है—

अग्नि—	वाक्	मुख
चन्द्रमा—	मन	हृदय
आदित्य—	चक्षु	अक्षि
दिशाएँ—	श्रोत्र	कर्ण
वायु—	प्राण	नासिका

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार इतने देवता और हैं—

ओषधिवनस्पति—	लोम	त्वचा
मृत्यु—	अपान	नाभि
जल—	रेत	शिश्न

इन देवताओं और उनके स्थानो की सञ्ज्ञा लोकपाल और लोक भी है। समस्त देवों का वास-स्थान मनुष्य के मस्तिष्क रूपी स्वर्ग में है। अथर्ववेद के अनुसार मस्तिष्क का विलक्षण नाड़ीजाल-

अश्वत्थ वृक्ष है, जिस पर देवों का वास है—

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । अथर्व ६ । ६५ । ६

मस्तिष्क ही स्वर्ग या ज्योतिषावृत द्युलोक है । पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की गणना में द्युलोक तीसरा है । उसमें देवसदन अश्वत्थ है । जितनी इन्द्रियाँ हैं, सब के सञ्ज्ञा-केन्द्र मस्तिष्क में ही हैं । उस अश्वत्थ के प्रत्येक पत्ते पर देवों का वास है । मस्तिष्क में सर्वत्र सञ्ज्ञान केन्द्र (Sensory and motor centres) फैले हुए हैं ।

देवपुरी के साथ ही इस देह को ब्रह्मपुरी भी कहा गया है । अथर्ववेद के ब्रह्मप्रकाशी सूक्त (१०।२) में शरीर की रचना का और अध्यात्मशास्त्र मे उसकी विविध परिभाषाओं का बहुत ही सुन्दर विवेचन है । एक मन्त्र में सिर की सञ्ज्ञा देवकोष है—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ १०।२।२७

ग्रिफिथ के अनुसार मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

"That is indeed Atharvan' head, the well closed casket of fhe gods Spirit and Food and Vital Air protect that head from injury"

अर्थात्—इस देह में अथर्वा निर्मित मस्तिष्क रूपी देव-कोष है । मन, प्राण, वाक् (अन्न) उसकी रक्षा करते हैं ।

मन, प्राण, वाक् अथर्वा ये सब भी वैदिक परिभाषाएँ हैं, जिन के अर्थ का विस्तार शतपथादि ब्राह्मणों में पाया जाता है । सक्षेप में मन अव्यय पुरुष, प्राण अक्षर पुरुष और वाक् या अन्न क्षर पुरुष की सञ्ज्ञाएँ हैं, जिनका समन्वय मनुष्य-देह मे पाया जाता है ।

इसी सूक्त के अन्य मन्त्र भी उल्लेख-योग्य हैं—

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरीम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदीची, ऊर्ध्वा, ध्रुवादिक जितनी दिशाएँ हैं, सब पुरुष के भीतर हैं, यह ब्रह्मपुरी है, इसमें वास करने के कारण वह ब्रह्म पुरुष (=पुरिशय) कहलाता है। अमृत से घिरी हुई यह ब्रह्म पुरी है (इस मर्त्य-पिण्ड को सब ओर से अमृत ने व्याप्त कर रक्खा है)। जो इसे जानता है, उसके चक्षु और प्राणों की कभी हानि नहीं होती।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥३३॥

चारों ओर जिसका यश वितत है, अतिशय भ्राजमान और तेजोमयी जो पुरी है, उस अपराजिता नगरी में ब्रह्म ने प्रवेश किया है।

इन अलङ्कार-प्रधान वर्णनो के अभ्यन्तर में भारतीय अध्यात्म-ज्ञान के रहस्य छिपे हुए हैं। साहित्य में रहस्य-वर्णन की शैली का पुराकाल से ऐतिहासिक अन्वेषण करने के लिए इन वैदिक परिभाषाओं का ज्ञान परमावश्यक है, क्योंकि परवर्ती कवियों ने इन परम्पराओं का अपने काव्यों में सन्निवेश किया है। अध्यात्म कवियों की काव्य-परिपाटी को सहृदयता के साथ समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्थूल वर्णनों के मूल में निहित परोक्ष अर्थों को यथार्थ रीति से जानें। ध्रुव लोक, कैलास, मानसरोवर, गङ्गा यमुना त्रिकुटी, सगम, हस, षट्कमल, मेरु, गगन-मण्डल, तीन लोक, सप्तसागर आदि अनेक शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग हिन्दी के अध्यात्म-प्रधान काव्य ग्रन्थो में अनेक वार किया गया है। यदि हम इन शब्दों के स्थूल अर्थों को ग्रहण करने का आग्रह करें तो कवि का रहस्य अर्थ कभी नहीं मालूम हो सकता और न कविता का ही

सुसगत अर्थ लग सकता है। जावसी ने कहा है--

चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ये सब मानुष के तन माहीं ॥

दैवी वीणा

हिन्दी कवियो ने जहाँ मनुष्य की वाक् की मुरली-ध्वनि से उपमा दी है, वहाँ वैदिक साहित्य में इसका रूपक देव-वीणा सेयाँ धा गया है। यह शरीर सामान्य वीणा नहीं है। यह दैवी वीणा है। इसके स्वरो में देवो का सङ्गीत है। जो कुशलता से इस वीणा को वजाता है। उसके कल्याण-प्रद स्वर दूर-दूर तक व्याप्त हो जाते हैं। उसके माधुर्य से सब मुग्ध हो जाते हैं। ऋग्वेद के शांखायन आरण्यक में इस रूपक का विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है--

अथ इयं दैवी वीणा भवति, तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति[1]।

कवि दोनों में निम्नलिखित सादृश्य देखता है--

दैवी वीणा	मानुषी वीणा
शिर	सिरे का भाग
पृष्ठ वश	पृष्ठ दण्ड
उदर	अम्भण या नीचे का भाग
मुख नासिका चक्षु	छिद्राणि
अँगुलियाँ	तन्त्री
जिह्वा	वादन
स्वर	स्वर

आगे कवि ने कहा है--

सा एषा दैवी वीणा भवति। स य एवमेतां दैवीं वीणां वेद श्रुतवदनतमो भवति, भूमौ चास्य कीर्तिर्भवति. शुश्रूषन्ते हास्य पर्षत्सु भाष्यमाणस्य—'इदमस्तु, यदयमीहते'। यत्रार्या वाचं वदन्ति विदुरेनं तत्र ॥

---

१ शां० आ० ८।६॥

अथातः ताण्डविन्दवस्य वचः । तद्यथा—इयमकुशलेन वादयित्रा वीणाऽऽरब्धा न तत्कृत्स्नं वीणार्थं साधयत्येवमेव अकुशलेन वक्त्रा वागारब्धा न तत्कृत्स्नं वागर्थं साधयति । तद्यथा हैवेयं कुशलेन वादयित्रा वीणारब्धा कृत्स्नं वीणार्थं साधयत्येवमेव कुशलेन वक्त्रा वागारब्धा कृत्स्नं वागर्थं साधयति । शांखायन आरण्यक ८।६,१०

अर्थात् जो इस दैवी वीणा को बजाना जानता है, उसकी वीणा के स्वर सुनने-योग्य होते हैं। जब परिषदों में वह बोलने के लिए खड़ा होता है, सब लोग उसे सुनने के लिए सावधान हो जाते हैं, और कहते हैं कि जो इसका सकल्प है वही हमें भी स्वीकार है। जहाँ आर्य लोग तत्त्वों का विचार करने बैठते हैं, वहीं उसका स्मरण होता है।

ताण्डविन्दव आचार्य का अनुभव है कि जैसे कुशल वादक वीणा में से अनन्त स्वर-माधुर्य को उत्पन्न करता है, वैसे ही वाक् रूपी वीणा का कुशल प्रयोक्ता वाणी के द्वारा अनन्त अर्थों की सिद्धि करता है। उसके स्वर-सामञ्जस्य से सब मुग्ध हो जाते हैं, वह जिस नवीन संगीत की तान छेड़ता है सारा राष्ट्र चकित होकर उसको सुनता है। सचमुच लोकमान्य महात्माओं की वाक् की महिमा की कोई इयत्ता नहीं है।

दैवी नाव

भव-सागर को पार करने के लिए मानुषी शरीर एक सुघटित नाव है। कितने इस पर चढ़ कर दुस्तर भवसागर के पार चले जाते हैं, कितने बीच में ही रह जाते हैं। निम्न-लिखित सुन्दर मन्त्र में इसी दैवी नाव का वर्णन है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं
सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।

दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो
अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ अथर्व ७ । ६ । ३

अर्थात्--हम लोग स्वस्ति तक पहुँचने के लिए इस दैवी नाव पर आरूढ़ हैं। यह नाव अस्रवन्ती है, कहीं से रिसती नहीं। स्वरित्रा है, उसमें इन्द्रियरूप बड़े सुन्दर डाँड लगे हुए हैं। सुप्रणीति अर्थात् सुघटित है, इसके निर्माण-कौशल का क्या ठिकाना है। यह अदिति है, अखंडनीया तथा देवों की जननी है। सुशर्मा अर्थात् सुप्रतिष्ठित प्राण से सम्पन्न है। सुत्रामा इन्द्र की यह नाव है। इसमें पृथिवी से द्युलोक तक की समस्त रचना है।

ऐसी नाव पर चढने वाले यात्री का अनागस अर्थात् समस्त पापों से रहित होना सब से बडी शर्त है। शुन शेप ने वरुण से यही प्रार्थना की है--

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्-
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवा-
नागसो अदितये स्याम ॥

हे वरुण, हमारे समस्त उत्तम, मध्यम, अधम पाशों को शिथिल करो। हे आदित्य, तुम्हारे व्रत में अनागस (पाप रहित) रहकर हम अदिति स्थिति को प्राप्त होवें।

इस प्रकार वैदिक परिभाषाओ का निर्वचन करते हुए हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन ऋषियों ने क्षेत्र, रथ, दैवी पुरी, ब्रह्म पुरी, देव-परिषद्, देव-ससद्, दैवी वीणा, देवरथ, दैवी नाव आदि आलौकिक रूपकों के द्वारा मनुष्य शरीर का ही अध्यात्म प्रसग से वर्णन किया है।

८—ब्रह्मचर्य

आर्य-संस्कृति में सब से अधिक वरेण्य तत्त्व ब्रह्मचर्य है। ऋषियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों का सार इस पवित्र शब्द में आ जाता है। किसी भी प्रकार की अध्यात्म-साधना मे तत्पर होने वाले व्यक्ति को पहले ही क्षण में इस बात का अनुभव होगा कि विना इस एक पूञ्जी के और कुछ भी स्थायी नहीं हो सकता। रेत के चलायमान होने से अन्य सब स्खलित रहता है। ब्रह्मचर्य की स्थिरता ही वह बुनियाद है, जिसके बल पर नीति और आत्मिक पवित्रता की इमारत खड़ी की जा सकती है। ब्रह्मचर्य उन पवित्र, सूक्ष्म नियमों का समुदित नाम है, जिन्हें आर्य ऋषियों ने कठिन तप और ध्यान से इसलिए निश्चित् किया था कि वे उन नियमों के अनुसार चलकर विश्वात्मा या विराट् जीवन के साथ एकता और सामञ्जस्य (Harmony) प्राप्त कर सकें।

विराट् प्रकृति में जो प्राणधारा (Life Force) है, वह आश्चर्य-मय ढग से निर्बाध अपना कार्य कर रही है। इस महाप्राण ने ही इतने-बड़े ब्रह्माण्ड को पवित्र और अर्चनीय बनाया है। यह प्राण सहस्र-रूप में प्रत्येक जात वस्तु के भीतर से प्रकट हो रहा है। इस प्राण की सञ्ज्ञा अर्क है, क्योंकि इस की सत्ता से जड़ में पूज्यत्वभाव उत्पन्न होता है। प्राण के अलग होते ही नर-देह नितान्त अपूज्य हो जाता है,

उसमें से दुर्गन्ध आने लगती है। जब तक प्राण की अन्तिम साँस रहती है तब तक रोगी के घृणित शरीर का तिरस्कार नहीं किया जाता। नित्यप्रति की क्रियाओ वाले इस शरीर में पवित्रता रखने वाला प्राण ही है। कौन जानता है कि देह में कितनी असख्य नाड़ियाँ, घटक कोष तथा कैसे-कैसे विचित्र रस हैं। वे सब विकार-सयुक्त होते रहते हैं। उन सब का अहर्निश शोधन करने वाली शक्ति प्राण है। प्राण की सूक्ष्म गति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोष (cell) और शिरातन्तु (fibrils) में भी है। यह प्राणशक्ति सब ज्ञात शक्तियों से अत्यधिक विलक्षण है। मनुष्य को इससे अधिक आश्चर्यकारक और रहस्यमय अन्य किसी तत्त्व का परिचय अब तक नहीं है। वेदों में प्राण की महिमा का अनेक प्रकार से वर्णन है। ऋषियों की दृष्टि में प्राण का माहात्म्य सब से अधिक है। आत्म तत्त्व या चैतन्य की अभिव्यक्ति प्राणन-क्रिया से ही होती है। अर्वाचीन विज्ञान में प्रकाश, ताप, विद्युत् आदि नामो से शक्ति का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वैदिक दृष्टि से ये समस्त रूप प्राण के ही हैं। प्राण ही सूर्यरूप में प्रकाश और ताप देता है, वही विद्युत् है। विद्युत् ऋण (Negative) और धन (Positive) रूप से दो प्रकार की होती है। प्राण और अपान रूप से प्राण भी द्विविध होकर कार्य करता है। इसलिए ऋषि ने वन्दना की है—

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते। अथर्व ११।४।८

मनुष्य-देह का इतना भारी पुतला प्राणापान की क्रियाओं का एक विकास है। महाप्राण की धारा का वह एक छोटा टुकडा है, जिसमें प्राण और अपान के प्रवाह को लिए हुए दो धाराएँ या तार काम कर रहे हैं। इस सयुक्त शक्ति का नाम सुषुम्णा है। इसी के आश्रय से यह मनुष्य-देह स्थिति-शील है। मेरुदण्ड की अन्त चारी

शक्ति सुषुम्णा (Spinal Cord) है। इसके अभ्यन्तर में अत्यन्त पवित्र और रहस्यमय रस परिपूर्ण है। इसी का रात-दिन अभिषव करने के कारण इसे सुषुम्णा कहते हैं। सुषुम्णा का रस ही मस्तिष्क-रूपी ब्रह्माण्ड में भरा रहता है। इस रस की पवित्रता ही प्राण की शक्ति का कारण है। प्राण-रूप विद्युत के उत्पन्न करने और उस को नियमित करने का श्रेय इस रस को ही है। रेत इस रस का सूक्ष्मतम रूप है। अतएव सूक्ष्म ज्ञान से यह बात प्रत्यक्ष होती है कि रेत की प्रतिष्ठा ही प्राणों की प्रतिष्ठा है। रेत की सम्यक् स्थिति के ऊपर ही समाधि की प्रक्रिया निर्भर है।

प्राणों की शान्त सौम्य स्थिति भी रेत की पवित्रता पर ही निर्भर है। अतएव समाधि की ओर ले जाने वाले जीवन-क्रम में ब्रह्मचर्य सब से महत्त्व-पूर्ण सीढ़ी है। प्राण जब उग्र या घोर रूप धारण करता है, तब नाना व्याधियों (Dissipation of Energy) का जन्म होता है। अशुद्ध रेत से ही प्राण विचलित होता है। व्याधि ग्रस्त व्यक्ति का मन भी अशान्त एव चचल रहता है। प्राण और मन का घनिष्ट सम्बन्ध है। मानसिक सकल्प-विकल्पों के अनुसार ही प्राण की धारा प्रवाहित होने लगती है। मानसिक शिव-संकल्पों से ही प्राण को पवित्र, शान्त एव बलवान् बनाया जा सकता है। प्राण और मन की पवित्रता के लिए शिवात्मक शुद्ध सकल्प या आत्म-शंसन (Auto-Suggestions) की नितान्त आवश्यकता है। वैदिक मन्त्रों में इसी प्रकार के ओजस्वी पवित्र सकल्प पाये जाते हैं—

ओजोऽसि ओजो मे धेहि।
बलमसि बलं मे धेहि।
वीर्यमसि वीर्य मे धेहि[1]।

मेरुदण्ड में व्याप्त सुषुम्णा को ऐसी 'इलैक्ट्रिकट्यूब' समझना चाहिए जिसमें असख्य वोल्ट की शक्ति भरी हो। जब मनुष्य विधि-

---

१ यजुः १६। ६ ॥

पूर्वक आहार-विहार और प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्व रेत बनने लगता है, उस समय समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म रसों का प्रवाह ब्रह्माण्ड या मष्तिष्क की ओर जाता है। ऐसे समय ब्रह्मचर्य की शुद्धि और मन की निर्विकारिता के विषय में बहुत सतर्क रहना चाहिए। तनिक सी भी असावधानी या स्खलन से शरीर-रूपी यन्त्र के छिन्न-भिन्न हो जाने का डर है। दो विरोधी प्रवाहों के संघर्ष से प्राण बहुत ही उग्र हो जाता है। और मनुष्य की अपरिमित हानि होती है। अतएव, ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन में अतीव जागरूक और सचेष्ट रहने की आवश्यकता है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य की शक्ति को मनुष्य लिखकर या कहकर नहीं बता सकता। यह अनुभव या साक्षात्कार की वस्तु है। जन्म से ही पवित्र और विकार-रहित रहने वाले शुक सदृश ऊर्ध्व-रेत महापुरुष वन्दनीय हैं। पर यह रत्न इतना महार्घ है, कि जिस क्षण से भी इसकी रक्षा की जाय, तभी से लाभ सम्भव है। बिना श्रद्धा के ब्रह्मचर्य की सिद्धि नहीं होती। श्रत् अर्थात् सत्य का जिसमें आधान हो वह श्रद्धा है। ब्रह्मचर्य-विषयक सच्ची श्रद्धा ही ब्रह्मचारियों के मार्ग का प्रकाश है। ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-निग्रह को हठ या दु:ख का कारण नहीं मानना चाहिए। हम जब तक सयम को नीरस और भोग को सरस समझने की बुद्धि रक्खेंगे तब तक सयम में मन का स्थिर होना असम्भव है। वस्तुत. भोग में जो स्वाद या रस प्रतीत होता है, उससे भी अधिक रस जितेन्द्रिय होने में हैं। ब्रह्मचर्य के सदृश आत्मिक आनन्द अन्य किसी वस्तु से प्राप्त होना कठिन है। ब्रह्मचर्य एक रसमय साधना है। इसके स्वाद को चख लेने के बाद फिर सहज में कौन पामर इस मधु का त्याग करने की भूल कर सकता है?

आत्मा के ज्ञान को उपनिषदों में मधु विद्या कहा है[1]। जितना मिठास इस में है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। इस आत्म-मधु की

---

१ बृह० २। ५। १—१९ ॥

मधुरता का स्वाद तभी प्राप्त होता है, जब ब्रह्मचर्य का मधु चख लिया हो। हम ब्रह्मचर्य को उस इन्द्रधनुष या स्पेक्ट्रम के सदृश कह सकते हैं, जिस में आत्मा के सब मधुमय आनन्दों की छटा प्रकाशित होती है। आत्म-सूर्य की रश्मियों का व्यञ्जक ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य को जिन्होंने आध्यात्मिक साधना का अनिवार्य अंग मान कर अपनाया है, वे जानते हैं कि इसमें अपूर्ण रह कर वे अपने रथ को एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा सकते। उनके लिए इन्द्रियनिग्रह् स्वेच्छा से स्वीकृत, परन्तु अपरिहार्य आवश्यक व्रत है। इस विषयों से भरे जगत् में प्राण और मन को टूटने-फूटने से बचाने के लिए ब्रह्मचर्य एक अद्भुत सहारा है।

विकारों से घायल मन क्षीण और निस्तेज हो जाता है। एक विकार को जीतने से दूसरे विकार पर पाँव रखने का बल मिलता है। सतत प्रयत्न से सिद्धि अवश्य मिलती है। सबल मन स्वतः अपनी विजय का मार्ग बनाता है। कैसी भी स्थिति में निराश होने से काम नहीं चलता। प्राणों की खोई हुई पवित्रता प्रयत्न से अवश्य न्यूनाधिक मात्रा में पुनः प्राप्त की जा सकती है। पराजय से उत्थान चाहने वाले आप श्रद्धान होकर अपने आप से कहिए—

पुनर्मा एतु इन्द्रियम्, पुनरात्मा मा एतु[1]।

अर्थात्—मुझे फिर इन्द्रियों का बल, फिर आत्मा का बल प्राप्त हो।

---

१. अथर्व० ७।६७।१॥

९—वाजपेयविद्या
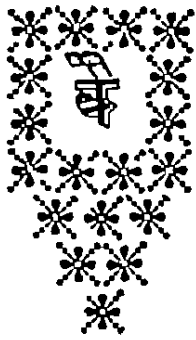
वैदिक स्वाध्याय और विमर्श की प्रणाली का इस काल में बहुत लोप हो गया है। जब से लोगों ने वेद के शब्दों पर विचार करना बन्द कर दिया, तब से उनके विचार रूढ़ियों के मुहताज हो गए। जिस देश में निरुक्त का अध्ययन रहता है, वहाँ विचारो की पराधीनता आ नही सकती। जब हम शब्द के मूल स्वरूप को देखते हैं, तो हमारी कल्पना तुरन्त व्यापक रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिये वैदिक 'वृष' शब्द को लीजिये। मूल शब्द में वर्षण क्रिया का भाव है। जहाँ-जहाँ सृष्टि में वृष्टि कर्म (केवल मेह अर्थात् आकाशस्थ पानी का बरसना ही वृष्टि शब्द से नहीं लेना चाहिये) पाया जायेगा, वहीं वृष धातु किसी-न-किसी रूप में जा सकती है। मेघ-वर्षण, रेत-निषिञ्चन आदि कर्म सब वृष धातु के किसी-न-किसी भाव से सम्बद्ध हैं। मूल में यही अवस्था थी। इसीलिए वृष के अर्थ भी अनेक हैं। जिन पदार्थों के अन्दर वर्षण सामर्थ्य प्रचुर मात्रा में पायी जाती थी वहीं वृष शब्द प्रयुक्त होने लगा। उसके अर्थ वीर्य सम्पन्न पुरुष के हैं। बैल भी वृष शक्ति का भण्डार है, इसलिए उसे भी वृष कहते हैं। इसी तरह काम, मेघ इनकी भी वृष सञ्ज्ञा हुई। परन्तु कालान्तर में वृष बैल के लिए रूढ हो गया। अब वैदिक काल से सहस्रों वर्ष दूर पडे हुए हम लोग जब वृष शब्द सुनते हैं, तब हमारे मन में सबसे पहले बैल का ध्यान आता है।

कुछ विद्वान् शब्द-शास्त्र और भाषा-विज्ञान की खोज तो करते हैं; परन्तु वैदिक अर्थों में उससे यथोचित लाभ नहीं उठाते, वे सारे शब्दगत अर्थ के विकास को भूल जाते हैं। वृष शब्द का जो अर्थ उन्हे वेद के समय में उपलब्ध होता, उसकी उपेक्षा करके वे आधुनिक शताब्दी में ही बैठकर उसके बैल रूप लौकिक अर्थ को ले लेते हैं। यही कारण है कि पश्चिम के प्रख्यात वैदिक पण्डितों ने भी इन्द्र के लिये 'वृषभो रोरवीति' पद का अर्थ (Indra-the great roaring Bull) अर्थात् 'इन्द्र बहुत रम्भने वाला बैल' ऐसा किया है। वैदिक पाण्डित्य के इतिहास में इतनी भयकर भूल शायद ही दूसरी हो। इसी प्रकार अन्य वैदिक शब्दों का विस्मरण हो रहा है। न हम ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित अर्थों को देखते हैं और न वैदिक मन्त्रा की हा तुलना करते हैं, और न कभी सोचते हैं कि अमुक शब्दों क जो लोक-रूढ अथ हमने जान रक्खे हे, उनके अतिरिक्त और भी कुछ अथ हो सकते हैं या नहीं।

वाजपेय क्या है ?

वाजपेय शब्द मे वाज को एक पेय पदार्थ कहा गया है वह क्या चीज है, कैसे वाज पिया जाता है, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना वाजपेय-विद्या के रहस्य को समझने के लिए आवश्यक है। वस्तुत पुराकाल में वाजपेयी परिवार या गोत्र वे ही थे जिनके पूर्वजों ने वाज-विद्या के महत्त्व का आविष्कार किया था और जिनमें वाज पीने के रहस्य और विधियाँ परम्परा से लोग बराबर जानते आते थे। प्रत्येक देश में वाजपेयी होते हैं और जहाँ के समाज में वाज पीने का मर्म स्वय जानने वाले और नवयुवको को उसे बताने वाले पुरुषों का अभाव हो जाता है, उस समाज में निर्बलता आ जाती है; वहीं ब्रह्मचर्य का अभाव हो जाता है। ऐसा इस समय भारतवर्ष में हो रहा है; क्योंकि वाजपेय के रहस्य को जानने वालों का यहाँ अभाव हो गया

है । इसीलिए हमारे यहाँ के किशोर अवस्था को प्राप्त युवा (Adolescent young men) निस्तेज होते जाते हैं, क्योंकि उचित समय पर उन्हें अपने वाज-वीर्य या शक्ति को भीतर-ही-भीतर पान कर जाने की शिक्षा देने वाला कोई नहीं है । वाजपेयी पुरुषों का अस्तित्व समाज-हित की दृष्टि से प्रकृति-सिद्ध है। उन्हें एक बड़ा काम करना है। युवावस्था वाजपेय-यज्ञ का युग है, पर अब इस विद्या का रहस्य न माता-पिता ही बताते हैं, न आचार्य, न कुल-पुरोहित तथा कुल-वैद्य ही।

आयुर्वेद का प्रमुख सिद्धान्त है कि रोग को दूर करने की अपेक्षा उसको आने ही न देना कहीं अधिक श्रेयस्कर है । आयुर्वेद में जिस वाजीकरण-विज्ञान की चर्चा है, वह उनके लिए है, जो शक्ति को खो बैठे हैं । वाजीकरण-तन्त्र सुश्रुत के अन्दर आठवाँ तन्त्र है। वाजीकरण शब्द में जो 'च्वि' प्रत्यय है, वही यह बताता है कि जहाँ वाज नहीं रह गया है वहां पुन. वाज की प्रतिष्ठा कर देना वाजीकरण का उद्देश्य है । व्याकरण जानने वाले 'अभूततद्भावे च्वि'[1] के अर्थ को जानते हैं । अवाज. औषधादिना वाज. क्रियते इति वाजी क्रियते, अर्थात् वाज-शून्य पदार्थ जब औषधादि से वाजसम्पन्न किया जाता है, उसी का नाम वाजीकरण है। जो औषधि, पाक और रस इसमें सहायक होते हैं, वे सब वाजीकरण प्रयोग कहलाते हैं। वाज और वृष (काम) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वृष शक्ति के रीते हो जाने से ही मनुष्य वाज-शून्य हो जाता है, इसीलिए वृष्य प्रयोग ही वाजीकरण भी हैं।

वृष और वाज का सम्बन्ध जानने से कुछ आभास मिलता है कि वाज क्या है। परन्तु वृष्य शक्ति वाज का एक रूप मात्र है। वाज का व्यापक अर्थ और भी अधिक है। वाज शब्द वज् धातु में घञ् प्रत्यय जोड़ने से बनता है[2] । वज् धातु का अर्थ है गति करना। वाज का अर्थ

१ द्र० अष्टा० ५।४।५०॥ २. अष्टा० ७।६।६० में चकार अनुक्त धातु के समुच्चय के लिए है। देखो देवराजकृत निघण्टु टीका पृष्ठ २०४।

है स्फूर्ति, रय, वेग, शक्ति, प्राण, वीर्य आदि। वज का ही अक्षर-विपर्यय से जव हो जाता है। जव का अर्थ वेग है। घोड़े को वाजी कहते हैं; क्योंकि उस में वल और वेग है। चिड़ियों के पङ्ख को तथा तीर के पुङ्ख को भी वाज कहने लगे हैं, क्योंकि इन दोनों में भी फुरती पाई जाती है। किन्तु जैसे वृष या वृषभ पद वैल के अर्थ में रूढ़-सा हो गया है, वैसे ही वाजी घोड़े के अर्थ में भी। यहाँ भी योरोपीय विद्वान् इन्द्र को वैल वताने की-सी भूल करते हैं। उषः सूक्त में पहले ही यों कहा है—

उषो वाजेन वाजिनि[1]

अर्थात्—उषा वाज से वाजिनी है। इस का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार करते हैं—

The Goddess of Dawn having fleet horses

अर्थात्—उषा तेज घोड़ो वाली है। जहाँ उषा को वाजिनीवती कहा है, वहाँ अर्थ हो जाता है कि उषा घोडियों वाली है। पर ऐसा कहने से पूर्व सोचना चाहिये कि क्या वाजी का कुछ और भी अर्थ है? क्या जन्म से वाजी शब्द घोड़े के लिये रूढ़ हो गया था?

सत्य यह है कि जिस ऋषि ने उषा को वाज से वाजिनी कहा है उसने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर सकेत किया है। वह उषा को देखता है। जो सव से पहली वात उसका ध्यान खींचती है वह उषा के अन्दर भरा हुआ अमित प्राण है। सभी को वह प्राण जीवन देने वाली है। उषा नित्य उस वाज को द्युलोक और पृथिवी के उदर में भर देती है, पर उसका कोष-संचय अक्षय्य है। उषा के अन्दर इतना वाज है, इतनी प्राण शक्ति और प्रेरणा है कि समस्त लोक उसके आगमन से चैतन्य लाभ करते हैं। इसी लिये कवि ने उषा को सम्वोधन करके कहा है—

---

१. ऋ० ३। ६१। १॥

पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिः[1]

सृष्टि के आदि काल से उषा है। कौन जानता है वह कितनी पुरानी है? उससे आयु में तुलना करने वाला और कोई नहीं, पर फिर भी उस में जरा का चिह्न नहीं। वह सदा युवती है। इसका कारण यह है कि उषा प्रचेत है। वह जागती रहती है। तन्द्रा अस्वास्थ्य का लक्षण और जागना स्वास्थ्य का चिह्न है। He who is awide awake even whilst asleep is truly healthy अर्थात् सोते समय भी जो जागरूक बना रहता है, वही सचमुच स्वस्थ है (म० गांधी)। ऋषि ने भी उषा को वाजिनी कह कर तुरन्त प्रचेत कहा है—

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि[2]।

अर्थात्—हे अनन्त तेजवाली उषे! तुम वाज से वाजिनी हो, क्योंकि तुम प्रचेत हो। इसलिए मैं जिस गान को गाता हूँ तुम उसको सुनो।

जो मनुष्य प्रचेत रहते हैं अर्थात् जिनका मन (subconscious mind) भी जागता रहता है, वे ही अपने किये हुए सकल्पों को पूरी तरह सुनते हैं, एक बार सुनकर फिर नहीं भूलते। तन्द्रा में भरे हुए आदमी दिन रात में न जाने कितने सकल्प करते हैं, परन्तु अपनी कही हुई बात को वे स्वय ही नहीं सुनते।

'वाज' के अन्दर सब प्रकार की शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक प्रेरणा और शक्ति आ जाती है। अध्यात्म वाजपेय उस कृत्य का नाम है, जिसमें मनुष्य वाज को अपना पेय कल्पित करता है। किशोरावस्था के आरम्भ में देह के भीतर एक विलक्षण प्रकार का रस बनने लगता है, इसी का नाम वीर्य है, इसे ही वाज भी कहते हैं, यथा—

---

१ ऋ० ३।६१।१॥ २ ऋ० ३।६१।१॥

वीर्यं वै वाजः। शतपथ ब्राह्मण ३ । ३ । ४ । ७

इसे भीतर-ही-भीतर पचाने का नाम वाज-पान है। प्रत्येक ब्रह्मचारी को वाजपेयी होना चाहिये। पिया हुआ वाज अमृत बन कर अमरपन देता है, अर्थात् शरीर के प्रत्येक घटककोष (Cell) में अमृत बहने लगता है। उनकी चेतना असीम हो जाती है।

शरीर के अन्दर जो भौतिक सामर्थ्य है, वह सब अन्न से प्राप्त होती है। **अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः**—यह क्रम उपनिषदों में भी पाया जाता है। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में कितनी जगह अन्न को भी वाज कहा गया है, यथा—

अन्नं वै वाजः। शतपथ ५ । १ । ४ । ३

ओषधयः खलु वै वाजः। तै० ब्रा० १ । ३ । ७ । १

अन्नं वै वाजपेयः। तै० १ । ३ । २ । ६

इसी प्रकार व्यापक दृष्टि से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, इन्द्र, ऋतु, पशु इनको भी वाजी कहा गया है।

ऋतवो वै वाजिनः। कौ० ब्रा० ५ । २ आदि

इन सब में अपने-अपने प्राकृतिक तेज के संरक्षण की सामर्थ्य है, इस से वे वाजी कहे जा सकते हैं।

वाजपेय यज्ञ में केत शुद्धि और मधुमती वाक् की बड़ी आवश्यकता है। केत नाम ज्ञान या बुद्धि का है। 'कित ज्ञाने' धातु के केत बनता है। 'केतपू' जो दिव्य गन्धर्व है, वह हमारे ज्ञान की शुद्धि करे,[२] पुराने सब कुसंस्कारों को मिटावे, तथा वाचस्पति=बृहस्पति वाक् को मधुर करे[३]। वाज की उपासना को वाजसनि कहते हैं (सनि-पूजा, उपासना)। वाज की सनि अर्थात् उपासना में जो चतुर हो वह वाजसनेय कहलाता है। याज्ञवल्क्य इस देश के बडे भारी वाजसनेयी हुए हैं।

---

१ तै० उ० ब्रह्मा० १, पाठान्तर। २ दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केत नः पुनातु । यजुः ११ । ७ ॥ ३. वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ यजुः ११ । ७ ॥

१०—च्यवन और अश्विनीकुमार

(Secret of Rejuvenation)
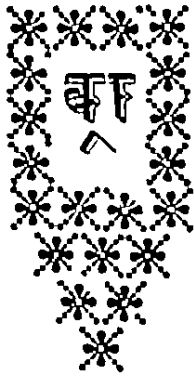
ब्राह्मण ग्रन्थ और पुराणों में एक सुन्दर कथा आती है, जिसका सार यह है कि, बुड्ढे, जीर्ण-शीर्ण च्यवन ऋषि को अश्विनीकुमारों ने फिर से युवा बना दिया। अश्विनीकुमार देवों के वैद्य थे। उन्हें वैद्य होने के कारण सोम याग में भाग नहीं मिलता था। उन्होंने च्यवन से कहा—'यदि हम तुम्हें फिर से युवा बना दें, तो हमें क्या दोगे?' च्यवन ने कहा—'हम तुम्हें देवताओं के सोमयज्ञ में सोम का भाग दिलावेंगे।' अश्विनीकुमार प्रसन्न हुए। उन्होने च्यवन को यौवन दिया और स्वय सोमपान के अधिकारी हुए।

इस कथा का क्या अभिप्राय है? अश्विनीकुमार कौन हैं? च्यवन कौन है? कैसे वे वृद्धावस्था को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त कर सके? सोम क्या है और उसका पान करने से अश्विनीकुमारों का कल्याण क्यों हुआ? इन प्रश्नों का उचित समाधान यदि हम समझ लें, तो प्राचीन भारतवर्ष की वाजपेयविद्या या यौवन-प्राप्ति के उपायों (Rejuvenation) के सम्बन्ध में हम बहुत कुछ जान सकेंगे।

अश्विनीकुमार

वेदों में अश्विनीकुमार को देवताओं का वैद्य या दैव भिषक् कहा गया है; यथा—

मर्त्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्
देवानामग्ने भिषजा शचीभिः

अथर्व० ७ । ५३ । १

हे देवताओं के भिषक् अश्विनीकुमारो ! अपनी शक्ति के द्वारा मृत्यु को हम से दूर करो।

वे दिव्य वैद्य कौन से हैं, जो समस्त ब्रह्माण्ड की चिकित्सा करते हैं, जिनकी विद्यमानता में मृत्यु का आक्रमण नहीं हो पाता ? इस प्रश्न का उत्तर भी अगले मन्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है—

संक्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणपानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानो ऽग्निष्टे गोपा अधिपा वशिष्ठः ॥

अथर्व० ७ । ५३ । २

अर्थात्—'हे प्राण और अपान ! तुम इस शरीर में बराबर सचरण करते रहो, शरीर को छोड़कर मत जाओ, तुम दोनो जोड़ीदार (सयुजौ) बनकर सयुक्त सखा की तरह रहो। हे मनुष्य ! तुम निरन्तर वर्धमान या वर्धिष्णु होते हुए सौ वर्षों तक जीवित रहो। वसिष्ठ अग्नि तुम्हारा रक्षक है।'

मन्त्र में स्पष्ट ही अश्विनीकुमारों की व्याख्या करके बताया गया है कि प्राण और अपान ही सदा साथ रहने वाले अश्विनी हैं। अश्विनी की एक सज्ञा नासत्य है। नासिका में सचरण करने वाले श्वास-प्रश्वास या प्राणापान ही नासत्य हैं। जैसा कहा है—

नसोंमें प्राणो अस्तु।

प्राणापान नामक अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य क्यों हैं? भारतीय विचारकों के अनुसार चिकित्सा-पद्धति तीन प्रकार की होती हैं।

(१) चीर-फाड़ के द्वारा शल्यादि—आसुरी-चिकित्सा।

(२) काष्ठादि ओषधियों के द्वारा—मानुषी-चिकित्सा।

(३) प्राणायाम-योगादि के द्वारा—दैवी-चिकित्सा।

ग्रन्थियों की शल्य-क्रिया (Gland-therapy) के द्वारा यौवन की प्राप्ति (Rejuvenation) आसुरी विधि है। काष्ठादि औषधियों की सहायता से शरीरस्थ रसों की जीर्णता दूर करके उनमें नवीन बल उत्पन्न करना अधिक उत्तम और स्थायी होता है; क्योंकि इसमें रोगी के मनका भी किसी हद तक सस्कार होता है। मन ही शरीर है, मन की शक्ति से शरीर का स्वास्थ्य और रसो की पवित्रता उत्पन्न होती है। क्रोध चिन्ता आदि मानसिक व्याधियों के कारण ही शरीर में लगभग चालीस प्रकार के विष उत्पन्न होते हैं। उन विषों को दूर करके शरीर की नस नाड़ियों को निर्विष बनाना (Detoxination) मन के शान्त शिवात्मक सकल्पों (Healthy, peaceful auto-suggestions) तथा योग-विधि का काम है। प्राणायाम के द्वारा यह कार्य सर्वश्रेष्ठ रीति से सिद्ध होता है। नाड़ी शुद्धि और निर्विषता की प्राप्ति के लिए आसन और प्राणायाम के समान गुणकारी दूसरा उपाय नहीं है। इस लिये प्राणविद्या की चिकित्सा-प्रणाली को दैवी माना गया है। वस्तुत: प्राण ही अमृत है। जहाँ प्राण हैं, वही अमृत है। मर्त्य शरीर को अमर बनाने वाले प्राण ही हैं।

प्राणा एवामृता आसुः, शरीरं मर्त्यम्। श० १०।१।४।१

प्राणों के द्वारा यजमान अथवा प्राणिमात्र हम सब अपने आप को अजर-अमर बना रहे हैं। सनातन योग विधि जिसका यम ने नचिकेता

को उपदेश दिया, प्राणविद्या ही है । इसी से आयु सूत्र का सवर्धन तथा अजर, अमर, अरिष्ट (Ageless, Deathless, Decayless) स्थिति प्राप्त होती है । वैदिक उपाख्यानों में सोम का और अमृत का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सोम ही अमृत है । सोम भी प्राण और अमृत भी प्राण है । परन्तु यहाँ सोम विद्या के सम्बन्ध में अधिक न लिखकर प्रस्तुत उपाख्यान को ही स्पष्ट करना अभीष्ट है ।

च्यवन

शरीर की प्राणशक्ति (Vitality) का स्वास्थ्य बहुत कुछ आदान और विसर्ग की क्रिया (Assimilation and Elimination Process) की स्थापना पर निर्भर है । इसी को 'Metabolic rate' भी कहते हैं । वस्तुत प्राणोत्पादिनी जीवन-शक्ति सब कुछ है । कभी यह वर्धिष्णु या वर्धमान रहती है, जैसे किशोरावस्थ में । उस अवस्था को 'Anabolic condition' कहते हैं । कभी यह शक्ति क्षयिष्णु (Catabolic) हो जाती है, छीजने लगती है, जैसे बुढ़ापे में । तभी मृत्यु का आक्रमण होने लग जाता है । शरीरस्थ स्नायु, मज्जा, रस (Secretions) सभी पर वृद्धावस्था या जीर्णता का प्रभाव पड़ता है । शक्ति का आधार आधिभौतिक (Physiological) है । इस कारण शरीर की धातुएँ जीर्ण या जरा-ग्रस्त होने लगती हैं । यदि हम इस क्षयिष्णु प्रवृत्ति को रोकना चाहें, तो शरीरस्थ रस और धातुओं को स्वस्थ और निर्मल बनाना आवश्यक है । अस्तु, इस क्षयशील दशा का नाम ही च्यवनस्थिति है । इस स्थिति में शरीर का ह्रास होने लगता है । व्याधि, जरा, जीर्णता, मृत्यु सब च्यवन के ही रूप हैं ।

मनुष्य की शक्ति की संज्ञा वाज है । वाज को वीर्य या रेत भी कहा जाता है । वाज का पान करने वाले, जो कर्मकाण्ड थे, उनको ही वाजपेय कहा जाता था । शरीरस्थ रेत-शक्ति को शरीर में ही पचा लेना सफल वाजपेज है । उस जीवन-रस को क्षीण कर डालना वाज

की हानि है। जिस देह में से वाज रिस रहा हो, वह कभी पुष्ट नहीं हो सकती। वाज से शून्य व्यक्ति को पुन. वाज-सम्पन्न बनाना ही वाजीकरण-विधि है, जिसका वर्णन आयुर्वेद के वाजीकरण-तन्त्रों में आता है। जिस शरीर में वाज भर रहा हो, जहाँ ब्रह्मचर्य की धारणा निष्कलङ्क हो, उसका प्राण भरद्वाज कहलाता है। च्यवन प्राण का उलटा भरद्वाज प्राण है। भरद्वाज प्राण वाज का भरण करने वाला अर्थात् वाजपेयी होता है। पुन यौवन की प्राप्ति के लिए, धातु और रसों की शुद्धि के लिए प्राकृतिक चिकित्सकों ने जो अनेक (Systems of nature-therapy) उपाय बताये हैं, और जो अर्वाचीन काल के आयुर्विज्ञान के पुष्पित कमल के समान अत्यन्त आदरभाव से देखे जाते हैं, उन सब का समावेश प्राणविद्या या वाजपेयविद्या में समझना चाहिए। भारतीय ऋषियों ने आयुष्य-सवर्धन और स्वास्थ्य-सम्पादन के प्रकृति-सिद्ध विधानों की ओर कुछ कम ध्यान नहीं दिया था। वस्तुत उन्होंने इस विषय के जितने गम्भीर रहस्य जान लिए थे, उनका यथार्थ परिज्ञान हमारे समय के लिए बहुत ही श्रेयस्कर हो सकता है। शरीर के भीतर जो प्राण की गर्मी है, वही प्राणाग्नि (Metabolic heat) हमको नीरोग बनाती है। औषधियाँ तो उपचार मात्र है। शरीर की अत्यन्त अद्भुत और चमत्कारिणी शक्ति ही प्राकृतिक चिकित्सकों का विश्वसनीय शस्त्र है। इसी के द्वारा शरीर की रक्षा, आयुष्य की वृद्धि और रोगों की निवृत्ति होती हैं। इसी तनूपा (तनू-रक्षक) अग्नि को सम्बोधन करके हम इस सकल्प का पाठ करते हैं—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि,
आयुर्दा अग्नेऽसि आयुर्मे देहि,
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि,
अग्ने, यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥

१ यजु. ३ । १७ ॥

अर्थात्—हे अग्नि, तुम तनूपा हो, मेरे शरीर की रक्षा करो
हे अग्नि, तुम आयु को देने वाले हो, मुझे आयु दो।
हे अग्नि, मेरे शरीर में जो कमी हो, उसे पूरा करो।

यहाँ अग्नि का प्राण (Vitality) अर्थ कुछ हमारे मन की कल्पना नहीं है। उपनिषदों और ब्राह्मणों में अनेक बार अग्नि का प्राण अर्थ किया गया है, यथा—

प्राणो अमृतं तद् हि अग्ने रूपम्। (शतपथ १०। २। ६। १८)

प्राणो वाऽग्निः। (शतपथ २। २। २। १५)

तदग्निर्वै प्राणः। (जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४। २२। ११)

प्राणो अग्निः (श० ६। ३। १। २१)

ते वा एते प्राणा एव यद् आहवनीयगार्हपत्यान्वाहार्यपचनाख्या अग्नयः। (श० २। २। २। १८)

इनका तात्पर्य यह है कि प्राण ही अग्नि है। यज्ञ में जो गार्हपत्य दक्षिणाग्नि और आहवनीय नामक तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है, उनका क्या अर्थ है, इस सम्बन्ध में प्रश्न उपनिषद् में लिखा है—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः, व्यानोऽन्वाहार्यपचनः, यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः, यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती, समं नयतीति स समानः, मनो ह वाव यजमानः, इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति।

(प्र० उ० ४। ३७४)

अर्थात्—इस शरीर-रूपी ब्रह्मनगरी में प्राणाग्नियाँ सुलगती रहती हैं (उस समय भी जब अन्य इन्द्रियादि देव सो जाते हैं)। गार्हपत्य अग्नि अपान, अन्वाहार्यपचन या दक्षिणाग्नि व्यान और आहवनीय प्राण हैं। श्वासप्रश्वासरूप आहुतियों को साम्यावस्था में रखने वाला समान है। मन यजमान है। इष्टफल उदान है। वह इस मन को नित्य ब्रह्म के समीप ले जाता रहता है।

इस प्रकार विचार-पूर्वक मनन करने से हमें प्राचीन यज्ञ सम्बन्धी परिभाषाओं के शाश्वत अर्थों का परिचय प्राप्त होता है। उनको जानकर हम प्राचीन भारतवर्ष के ज्ञान के अधिक सन्निकट पहुँच कर उसके नित्य मूल्य को पहिचानने में समर्थ हो जाते हैं। च्यवन अश्विनीकुमार जैसी कथाओं के अर्थों को खोलने के लिए इन्हीं संशोधित परिभाषाओं का अवलम्बन आवश्यक है।

अश्विनीकुमारों का सोम-पान।

हमने ऊपर अश्विनीकुमारों का स्वरूप बताया, फिर च्यवन किसे कहते हैं, इसको स्पष्ट किया। अब प्रश्न शेष रहता है कि च्यवन ने जब अश्विनीकुमारों से यौवन माँगा, तब बदले में क्यों अश्विनीकुमारों ने यह शर्त रक्खी कि यदि तुम हमें यज्ञ में सोम-पान कराओ, तो हम तुम्हें यौवन दे सकते हैं। इसको जानने के लिए सोम को समझना आवश्यक है। वीर्य, रेत या शरीरस्थ रस का नाम ही सोम-रस है। केन्द्रिय नाडी-जाल (Central Nervous System) औषधि वनस्पतियाँ हैं, जिनसे मिलकर सुषुम्णा जाल या मेरुदण्ड-रूप वनस्पति (Arbor Vitae) अथवा वानस्पत्य यूप तैयार होता है। जिनमें सोम-रस भरा रहता है। नाडी रस की शुद्धि ही स्वास्थ्य का लक्षण है। मस्तिष्क में भी यही रस भरा रहता है, जो नीचे सुषुम्णा नाड़ी की शाखा-प्रशाखाओं को सींचता है। इस रस पर ही मस्तिष्क की समस्त चेतना निर्भर है। इस रस (Cerebro-spinal fluid)

के सम्बन्ध में अर्वाचीन शरीर शास्त्री (Physiologists) भी अनेक आश्चर्यजनक महत्त्व की बातें बताते हैं। मस्तिष्क को सींचकर शुद्ध और बलवान् बनाना इसी रस का कार्य है। यह सोम रस, रेत या वीर्य-रूप से शरीर में सञ्चित होता है। असयम के कारण इसका शरीर से बाहर क्षय हो जाता है। जब तक प्राणापान-रूप अश्विनीकुमार इस सोम को पी सकते हैं, तब तक शरीर में जरा का आक्रमण नहीं होता। च्यवन की क्षीण शक्ति (Catabolic state of deplete energy) को फिर से ऊर्जित और बलिष्ठ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर के सोम-रस से उत्पन्न शक्ति शरीर में ही रहे, अर्थात् प्राणापान उस सोम-रस का पान करें।

यह शरीर भी एक यज्ञ है। ब्राह्मण और उपनिषदों में बार-बार यह परिभाषा दुहराई गई है—

पुरुषो वै यज्ञः[1]।

इसके भीतर जो प्राकृतिक क्रियाएँ होती हैं, उनका ही अनुकरण यज्ञ के कर्मकाण्ड में किया जाता है। शक्ति-सवर्धन के लिए सोम या रेत का ही शरीर में पाचन अनिवार्य है, इसी कारण अश्विनीकुमारों ने च्यवन से यह प्रतिज्ञा कराई कि हम तुम्हें यज्ञ में सोमपान का भाग अवश्य दिलावेंगे। च्यवन के तप से यह सम्भव हुआ। उसी की महिमा से च्यवन की जीर्णता दूर हुई। जो उचित प्रकार से सोम का पान करके मन और शरीर की स्वस्थता का संपादन करता रहता है, वही सदा अरिष्ट, अजर, अमर रह सकता है। उसी के लिए यह कहा गया है—

प्रविशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥

(अथर्व ७।५।३।५)

---

१. कौ० ब्रा० १७। ९। शत० १।३।२।१॥ गो० १।४।२४ इत्यादि

अर्थात्—इस शरीर-रूपी ब्रह्मनगरी में प्राणाग्नियाँ सुलगती रहती हैं (उस समय भी जब अन्य इन्द्रियादि देव सो जाते हैं)। गार्हपत्य अग्नि अपान, अन्वाहार्यपचन या दक्षिणाग्नि व्यान और आहवनीय प्राण हैं। श्वासप्रश्वासरूप आहुतियों को साम्यावस्था में रखने वाला समान है। मन यजमान है। इष्टफल उदान है। वह इस मन को नित्य ब्रह्म के समीप ले जाता रहता है।

इस प्रकार विचार-पूर्वक मनन करने से हमें प्राचीन यज्ञ सम्बन्धी परिभाषाओं के शाश्वत अर्थों का परिचय प्राप्त होता है। उनको जानकर हम प्राचीन भारतवर्ष के ज्ञान के अधिक सन्निकट पहुँच कर उसके नित्य मूल्य को पहिचानने में समर्थ हो जाते हैं। च्यवन अश्विनीकुमार जैसी कथाओं के अर्थों को खोलने के लिए इन्हीं सशोधित परिभाषाओं का अवलम्बन आवश्यक है।

अश्विनीकुमारों का सोम-पान।

हमने ऊपर अश्विनीकुमारों का स्वरूप बताया, फिर च्यवन किसे कहते हैं, इसको स्पष्ट किया। अब प्रश्न शेष रहता है कि च्यवन ने जब अश्विनीकुमारों से यौवन माँगा, तब बदले में क्यों अश्विनीकुमारों ने यह शर्त रक्खी कि यदि तुम हमें यज्ञ में सोम-पान कराओ, तो हम तुम्हें यौवन दे सकते हैं। इसको जानने के लिए सोम को समझना आवश्यक है। वीर्य, रेत या शरीरस्थ रस का नाम ही सोम-रस है। केन्द्रिय नाड़ी-जाल (Central Nervous System) औषधि वनस्पतियाँ हैं, जिनसे मिलकर सुषुम्णा जाल या मेरुदण्ड-रूप वनस्पति (Arbor Vitae) अथवा वानस्पत्य यूप तैयार होता है। जिनमें सोम-रस भरा रहता है। नाड़ी रस की शुद्धि ही स्वास्थ्य का लक्षण है। मस्तिष्क में भी यही रस भरा रहता है, जो नीचे सुषुम्णा नाड़ी की शाखा-प्रशाखाओं को सींचता है। इस रस पर ही मस्तिष्क की समस्त चेतना निर्भर है। इस रस (Cerebro-spinal fluid)

११–अङ्गिरस् अग्नि
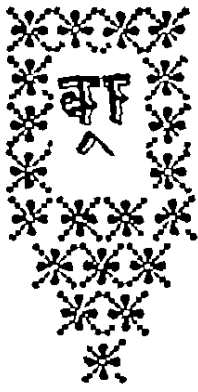
प्राणापान-रूप अग्निहोत्र

—○·※·○—

ब्राह्मण-ग्रन्थों में कई स्थानों पर एक कथा पाई जाती है कि प्रजापति ने सृष्टि के सब पदार्थों को रचकर उन में मृत्यु को भाग दे दिया। मृत्यु को भाग मिलने से सब पदार्थों में नश्वर-धर्म का संस्पर्श हो गया। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसी को जराग्रस्त भी होना पड़ता है। यह प्राकृतिक अलंघ्य विधान है। केवल एक वस्तु ऐसी थी, जिसको प्रजापति ने अपने लिए प्रिय जानकर उसमें मृत्यु को हिस्सा नहीं दिया। वह ब्रह्मचारी था। मृत्यु उसमें हिस्सा पाने के लिए उपरोध करने लगा। मृत्यु के आग्रह से प्रजापति ने नियम कर दिया कि अच्छा, तुमको ब्रह्मचारी में भी भाग लेने का अधिकार होगा, लेकिन एक शर्त है, वह यह कि जिस अहोरात्र में ब्रह्मचारी समिधाधान से अग्निहोत्र नहीं करेगा, उस दिन या रात्रि को उसके जीवन को तुम दबा लेना। इसलिए जिस अहोरात्र में अग्निहोत्र विधि-पूर्वक निष्पन्न किया जाता है, वह अमृतत्व का बढ़ाने वाला होता है। अग्निहोत्र के द्वारा ब्रह्मचारी उस अमृत अग्नि की परिचर्या करता है, जो सब नरों में अतिथि-रूप से बसा हुआ है। जीवात्मा ही वह वैश्वानर अतिथि है, (शतपथ ११-३-३-१ तथा गोपथ पू० २-६)।

इस कथा का अभिप्राय वृद्धि और ह्रास के ब्रह्माण्डव्यापी नियम के पिण्डगत विधान को स्पष्ट करना है। ब्रह्मचर्य उस अवस्था

अर्थात्—प्राणापान इसके शरीर में प्रविष्ट होते रहें, जैसे गोष्ठ में दो वृषभ हों। स्तोता की यह आयुरूप निधि अरिष्ट (अक्षय) रूप में बढ़ती रहे। च्यवन के सदृश हम सब को भी दृढ़ सकल्प से कहना चाहिए—

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥
सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा संशिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो यद्विरिष्टम् ॥
(अथर्व ६ । ५३ । २, ३)

अर्थात्—मेरे शरीर में प्राण, आत्मा, चक्षु और जीवन की पुन प्रतिष्ठा हो। शरीर-रक्षक तनूपा अग्नि अधृष्य रह कर सब दुरितों को हटाता रहे। वर्चस्, प्राण रस और तनु के साथ हमारा मेल रहे। हमारे शरीर में जो जीर्णता का अश (विरिष्ट (Decaying elements) हो, उसे त्वष्टा या शरीर के निर्माता प्राण धो डालें ।

११–अङ्गिरस् अग्नि

प्राणापान-रूप अग्निहोत्र

ब्राह्मण-ग्रन्थों में कई स्थानों पर एक कथा पाई जाती है कि प्रजापति ने सृष्टि के सब पदार्थों को रचकर उन में मृत्यु को भाग दे दिया। मृत्यु को भाग मिलने से सब पदार्थों में नश्वर-धर्म का सस्पर्श हो गया। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसी को जराग्रस्त भी होना पड़ता है। यह प्राकृतिक अलङ्घ्य विधान है। केवल एक वस्तु ऐसी थी, जिसको प्रजापति ने अपने लिए प्रिय जानकर उसमें मृत्यु को हिस्सा नहीं दिया। वह ब्रह्मचारी था। मृत्यु उसमें हिस्सा पाने के लिए उपरोध करने लगा। मृत्यु के आग्रह से प्रजापति ने नियम कर दिया कि अच्छा, तुमको ब्रह्मचारी में भी भाग लेने का अधिकार होगा, लेकिन एक शर्त है, वह यह कि जिस अहोरात्र में ब्रह्मचारी समिधाधान से अग्निहोत्र नहीं करेगा, उस दिन या रात्रि को उसके जीवन को तुम दवा लेना। इसलिए जिस अहोरात्र में अग्निहोत्र विधि-पूर्वक निष्पन्न किया जाता है, वह अमृतत्व का बढ़ाने वाला होता है। अग्निहोत्र के द्वारा ब्रह्मचारी उस अमृत अग्नि की परिचर्या करता है, जो सब नरों में अतिथि-रूप से बसा हुआ है। जीवात्मा ही वह वैश्वानर अतिथि है, (शतपथ ११-३-३-१ तथा गोपथ पू० २-६)।

इस कथा का अभिप्राय वृद्धि और ह्रास के ब्रह्माण्डव्यापी नियम के पिण्डगत विधान को स्पष्ट करना है। ब्रह्मचर्य उस अवस्था

का नाम है, जिसमें मनुष्य ब्रह्म के साथ चलता है । ब्रह्म+चर्य= moving with the creative growth, बृहणत्व या बढना स्वभाव-सिद्ध है। इस बृहण या ब्रह्मा की शक्ति को जब हम अपने भीतर ही पचा लेते हैं, तब हम ब्रह्मचर्य-दशा में रहते हैं। कुमारावस्था में ब्रह्म-धर्म प्रबल रहता है। उस समय शरीर के कोषों की अभिवृद्धि ही अधिक होती है। जो थोड़े-बहुत कोष क्षय को प्राप्त भी होते हैं, उनका समुदाय बहुत अल्पा होता है। वृद्धि और ह्रास के कार्य इस प्रकार जब व्यवस्थित हों कि वर्धिष्णु प्रवाह ह्रसिष्णु की अपेक्षा बहुत प्रबल रहे, तब शरीरस्थ विद्युत् या प्राण ब्रह्मचर्य-निष्ठित रहते हैं। वृद्धि का नाम प्राण (Anabolic force) और ह्रास का नाम अपान (Katabolic force) है । प्राणापान का समीकरण ही शरीर-स्थिति का प्रधान-हेतु है । वृद्धि की संज्ञा भरद्वाज ऋषि है। ह्रास का नाम च्यवन ऋषि है। वृद्धि और ह्रास या प्राणापान का ही रूपांतर अग्नि+सोम है, जिन को उद्दिष्ट करके अग्निहोत्र की आहुतियां दी जाती हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण में, शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु या कोष में भी यह अग्निहोत्र का द्वन्द्व गूढ़ रीति से अनुप्रविष्ट है। ब्रह्माण्ड या पिंड में कुछ भी ऐसा नहीं, जो इस द्वन्द्व से विनिर्मुक्त हो। प्राणापान या अग्निषोम के ही विशिष्ट नाम यह हैं-

सृष्टि	प्रलय
ब्राह्म दिन	ब्राह्म रात्रि
उत्तरायण	दक्षिणायन
शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
दिन	रात
पूर्वाह्ण	अपराह्ण

प्राण	अपान
देव	पितृ
ज्ञान	कर्म
ज्योति·	तम.

सृष्टि के साथ ही प्रलय की कल्पना सनिहित है । प्रलय-विहीन सृष्टि असभव है । सृष्टि के प्रत्येक क्षण में भी प्रलय-प्रक्रिया वर्त्तमान रहती है । रात्रि न हो तो दिन की सत्ता विच्छिन्न हो जाय ।

इस प्रकार यद्यपि सृष्टि में प्रलय और प्रलय में सृष्टि के अङ्कुर वने रहते हैं, फिर भी अपने-अपने समय मे जो विधान प्रवल रहता है, उसी के धर्मों के अनुसार सृष्टि और प्रलय या प्राण और अपान के फल दृष्टिगोचर होते हैं । उत्तरायण प्राण-प्रधान तथा दक्षिणायन अपान-प्रधान है । ब्रह्मचर्य प्राण-प्रधान और जरा-काल अपान-प्रधान है । जहाँ प्राण की शक्ति अपान से वलवती है, वहां मृत्यु का भाग वहिष्कृत समझना चाहिए । जिस दिन ब्रह्मचारी अङ्गिरस अग्नि को समिद्ध नहीं करता,[1] उसी दिन प्राणापन की समता अस्तव्यस्त हो जाती है । वर्धिष्णु धर्मों को क्षयिष्णु शक्तियाँ दवा लेती हैं, अथवा यों कहें कि देवों को असुरों के सामने पराभूत हो जाना पड़ता है ।

ऊपर की तालिका में एक कोष्ठक ज्योतिषावृत है, दूसरा तमसावृत । सृष्टि से पूर्वाह्ण तक ज्योति है, अपराह्ण से प्रलय तक तमस् है । ज्योतिर्मय काल में प्राणो का उत्सर्ग ऊर्ध्वगमन है, तमसावृत काल में प्राण-त्याग अधस्तात् गति है । सूर्य अपनी गति से एक अग्निहोत्र हमारे सामने रच रहा है—

सूर्यो ह वाऽ अग्निहोत्रम् (शतपथ २-३-१-१)

इस अग्निहोत्र की षाण्मासिक, मासिक और दैनिक आवृत्ति का हम प्रति संवत्सर में अनुभव करते हैं । 'शतपथ ब्राह्मण' में

---

१ देखो–शतपथ ११ । ३ । ३ । १ ॥ गोपथ पू० ३ । ६ ॥

अग्निहोत्र को 'जरामर्य सत्र' कहा गया है, अर्थात् जिस यज्ञ का सत्र (Session) जरा-पर्यन्त या मृत्यु-पर्यन्त रहता है, वह अग्निहोत्र है—
'एतद्वै जरामर्य ँ सत्रं यदग्निहोत्रं, जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' (शतपथ १२ । ४ । १ । १)। इस सतत-प्रचारित अग्निहोत्र से तादात्म्य प्राप्त करने के लिए—उसके रहस्य को आत्मसात् करने के लिए ही वैदिक जीवन में साय-प्रात होने वाले अग्निहोत्र की कल्पना की गई है। जीवन के अनवरत सग्राम में हम अनेक विषम ध्वनियों से अभिभूत होकर अन्तर्व्यापी सगीत की मधुर लय खो बैठते हैं। हमारे चारो ओर नश्वर-धर्म वाले पदार्थों का जाल बिछा है। इन सब में एक अविनाशी तत्त्व का सरस उद्गीथ (Rhythm) छिपा हुआ है। साय-प्रात के अग्निहोत्र से हम उसी सगीत को सुनने और उसके साथ समनस् होने को विचेष्टित होते हैं। जिन्हें यह दर्शन भी सुलभ नहीं है, उनका जीवन शक्ति का विवश अपव्यय ही है।

इस अग्निहोत्र की केवल दो ही प्रधान आहुतियाँ हैं। दो की सधि ही तीसरी आहुति है। यही त्रिक का मूल है। सर्वत्र ही त्रिकशास्त्र में पूर्व-रूप और उत्तर-रूप तथा उनके सधान का वर्णन पाया जाता है। जिस व्यक्ति ने सब जगत् के त्रिक को पहचान लिया है, वह शोकातीत होकर ज्योतिषावृत स्वर्ग में आनन्द करता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वा ँ श्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥

(कठ-उपनिषद् १ । १ । १८)

इसी त्रिक के सज्ञान का कारण अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं—

भू.	भुवः	स्व
प्राण	अपान	व्यान
अग्नि	वायु	आदित्य

ये ही अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं। इन्हीं देवों को उद्दिष्ट करके स्वाहाकार होता है। व्यक्त ब्रह्माण्ड (Cosmos) का सङ्गीत 'अ उ म्' की तीन मात्राओं से प्रतीत हो रहा है। यही वामनवेषधारी विष्णु (Macrocosm as microcosm) के तीन पैर हैं, त्रेधा विचक्रमण है, जिसके द्वारा विष्णु ने त्रिलोकी को नाप लिया है। जो वामन है, वही विष्णु है—

'वामनो ह विष्णुरास'[1]

अपने विराट् रूप में जो आत्मा सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद् है, वामन-वेश में वही दस अङ्गुलियों के आधार से खड़ा है। दो चरणों पर जिसकी स्थिति है, उसके विराट् रूप को जो पहचानते हैं, वे आत्मज्ञानी धन्य हैं। अध्यात्म विष्णु के तीन चरण वाक्, मन और प्राण हैं। इन्हीं के नामान्तर इस प्रकार हैं—

वाक्=विज्ञात (Known),
मन=विजिज्ञास्य (To be known),
प्राण=अविज्ञात (Unknown),

वाक् ऋग्वेद, मन सामवेद और प्राण यजुर्वेद का सार है। भूत विज्ञात है, वर्तमान विजिज्ञास्य है, भविष्य अविज्ञात है। विना इन चक्रों के ब्रह्माण्ड का एक परमाणु भी आगे नहीं बढ़ सकता। इन्हीं के ऐक्य-मर्म को जानने के लिए अग्निहोत्र की निम्न आहुतियाँ हैं—

ॐ भूरग्नये स्वाहा।
ॐ भुवर्वायवे स्वाहा।
ॐ स्वरादित्याय स्वाहा।

इन्ही आहुतियो में प्राणापान और व्यान भी सम्मिलित हैं। ये ही अग्नीषोमात्मक आहुतियाँ हैं—

---

१ शत० १।२।५।५॥

अग्निहोत्र को 'जरामर्य सत्र' कहा गया है, अर्थात् जिस यज्ञ का सत्र (Session) जरा-पर्यन्त या मृत्यु-पर्यन्त रहता है, वह अग्निहोत्र है—
'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं, जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' (शतपथ १२ । ४ । १ । १)। इस सतत-प्रचारित अग्निहोत्र से तादात्म्य प्राप्त करने के लिए—उसके रहस्य को आत्मसात् करने के लिए ही वैदिक जीवन में साय-प्रात. होने वाले अग्निहोत्र की कल्पना की गई है। जीवन के अनवरत सग्राम में हम अनेक विषम ध्वनियो से अभिभूत होकर अन्तर्व्यापी सगीत की मधुर लय खो बैठते हैं। हमारे चारों ओर नश्वर-धर्म वाले पदार्थों का जाल बिछा है। इन सब में एक अविनाशी तत्त्व का सरस उद्गीथ (Rhythm) छिपा हुआ है । साय-प्रात. के अग्निहोत्र से हम उसी सगीत को सुनने और उसके साथ समनस् होने को विचेष्टित होते हैं। जिन्हें यह दर्शन भी सुलभ नहीं है, उनका जीवन शक्ति का विवश अपव्यय ही है।

इस अग्निहोत्र की केवल दो ही प्रधान आहुतियाँ हैं। दो की सधि ही तीसरी आहुति है। यही त्रिक का मूल है। सर्वत्र ही त्रिकशास्त्र मे पूर्व-रूप और उत्तर-रूप तथा उनके सधान का वर्णन पाया जाता है। जिस व्यक्ति ने सब जगत् के त्रिक को पहचान लिया है, वह शोकातीत होकर ज्योतिषावृत स्वर्ग में आनन्द करता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वा ꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

(कठ-उपनिषद् १ । १ । १८)

इसी त्रिक के सज्ञान का कारण अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं—

भू	भुवः	स्व
प्राण	अपान	व्यान
अग्नि	वायु	आदित्य

समय अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है। प्रात.काल की आहुति सूर्य-निमित्त है, सायकाल की आहुति अग्नि-निमित्त--

ॐ सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा[1]।

ॐ सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा[2]

ज्योति और वर्च--ये सूर्य के दो रूप हैं। सूर्य की प्रातःकालीन ज्योति (प्राण) अपने वर्च (अपान) से रहित नहीं रह सकती। ज्योति और वर्च दोनों दो होते हुए भी एक हैं, और एक ही सूर्य प्रातःकाल में भी ज्योति+वर्च के रूप में प्रकट होता है।

सूर्य = { ज्योति, वर्च }   ज्योति = वर्च

यही प्राणापान का संक्षिप्त समीकरण है। प्राणापान की ही वैदिक सज्ञा 'सविता' और 'सावित्री' है। गोपथ ब्राह्मण [पू० १।३२,३३] में मौद्गल्य और मैत्रेय के संवाद-रूप में, सविता-सावित्री का विशद निरूपण है सावित्री-शक्ति के बिना सविता नि शक्त रहता है। सविता देव और सावित्री उसकी देवी है।

मैत्रेय ने मौद्गल्य के चरण छुए और पूछा--कृपा कर पढाइए, कौन सविता है, और कौन सावित्री है। इस पर मौद्गल्य ने द्वादश जोड़ोवाली सावित्री का निर्वचन किया। वे बारह द्वन्द्व इस प्रकार हैं--

Positive	Negative
सविता	सावित्री
१ मन	वाक्
२ अग्नि	पृथिवी
३ वायु	अन्तरिक्ष
४ आदित्य	द्यौ

---

१. यजुः ३।६॥   २. यजु. ३।६॥

अग्नि—Metabolism भरद्वाज=प्राण;

सोम-(Catabolism) च्यवन=अपान।

अग्नये स्वाहा—यह उत्तरायण की आहुति है। सोमाय स्वाहा—यह दक्षिणायन की आहुति है। सारा जगत् अग्नीषोमात्मक है। महाप्राण या विद्युत द्विधा-रूप होकर सब को बनाती और बिगाडती है। Positive—Negative का द्वन्द्व ही अग्नीषोम या प्राणापान है—

'प्राणापानौ अग्नीषोमौ'। ऐतरेय ब्राह्मण १।८॥

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्रं तत्सौम्यम्"। शतपथ १।६।३।२३।

अग्नीषोम के अतिरिक्त तीसरा पदार्थ कुछ नहीं है। जो कुछ है, वह इन्हीं की संधि है—इन्हीं का परस्पर आकर्षण है। इस ग्रन्थि के द्वारा अग्नि की शक्ति सोम में और सोम की शक्ति अग्नि में अवतीर्ण होती है। अग्नि और सोम का सम्मिलन ही व्यक्त प्रकाश या शक्ति का हेतु है। अग्नि और सोम ही दिन-रात हैं—

'यदि वेतरथा अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ'। कौषीतकी, १०।३॥

कर्मकाण्ड में अग्नीषोम की ही संज्ञा "दर्श-पौर्णमास" है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष मासिक अहोरात्र के रूप हैं। इस मासव्यापी अग्निहोत्र से सोम की कलाओं की वृद्धि और क्षय होता है। 'यच्छुक्लं तदाग्नेयं, यत्कृष्णं तत्सौम्य', चाहे इसे ही दूसरी तरह कह लें,

'यदेव कृष्णं तदाग्नेयं, यच्छुक्लं तत्सौम्यम्' (शतपथ १–६–३–४१)

एक ही वस्तुतत्त्व को कहने के अनेक प्रकार हैं। जो कभी धन है, वही ऋण बन जाता है। ब्रह्मचर्य-काल में जो शक्ति प्राणात्मक है, जरावस्था में वही अपानात्मक हो जाती है। सूर्य का ही तेज रात्रि के

प्राणात्मिका है। इसलिए तीसरे मन्त्र में सविता-सावित्री (प्राणापान अथवा ज्योति-वर्च)-सयोग दिखाया गया है—

ॐसजूर्देवेन सवित्रा सजूरुपसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा'
अर्थात् सूर्य के लिए स्वाहा हो, जो सूर्य सविता देव और सावित्री प्राणात्मक उषा से जुष्ट रहता है।

इसी प्रकार सायकाल के अग्निहोत्र में अग्नि संज्ञक प्राण के ज्योति और वर्च रूपों का स्मरण हैं। सायकाल का सविता अग्नि और इन्द्रवती सावित्री रात्रि है। सूर्य और उषा, अग्नि और रात्रि—ये प्राणापान या अग्निषोमाख्य द्वन्द्व के ही कल्पना-भेद हैं।

ये सब अग्निहोत्र-कल्प किस निमित्त हैं? उसी अग्नि की उपासना के लिये, जिसे प्रजापति ने ब्रह्मचारी को सौंपा था। वह आत्मा-रूपी अग्नि अतिथि रूप से सब शरीरों में रहता है, वह वैश्वानर है[२]। प्रजापति ने जन्म लेने के साथ ही अपने आयु के उस पार को देख लिया था। एक तट पर आते ही उन्हें दूसरे तट का ज्ञान हो गया। जो अतिथि आता है, उसका जाना (महायात्रा या महान् सांपराय) भी निश्चित है। वह अतिथि अग्नि अङ्गिरा बना है, सब अङ्गों में रस बनकर वही व्याप्त है। उसके रस से सब अङ्ग हरे रहते हैं, उस अङ्गिरा के पृथक् होते ही **'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'**[३] वाली गति हो जाती है, अस्थि-पिञ्जर सूखकर गिर जाता है। यह उसी अग्नि की ज्वाला, प्रभा या रोचना है, जो प्राण से अपान तक दौड़ती है—

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥
(यजु० ३।४)

जिस अन्तर्यामी की दीप्ति के रूप प्राणापान हैं, उसने अपने परम जन्म को जान लिया है। अन्तश्चारी प्राणापान के द्वारा उस अङ्गिरा अतिथि को समिद्ध और प्रबुद्ध करना ही दिव्य अग्निहोत्र है।

---

१ यजु. ३।१०॥ २ कठो० १।१।७॥ ३ कठो० १।६।१॥

५ चन्द्रमा	नक्षत्राणि
६ अहः	रात्रि
७ उष्ण	शीत
८ अभ्र	वर्षा
९ विद्युत्	स्तनयित्नु
१० प्राण	अन्न
११ वेदा	छन्दांसि
१२ यज्ञ	दक्षिणा

वस्तुत. सविता और सावित्री मूल में एक हैं। 'मन एव सविता वाक् सावित्री। यत्र ह्येव मनस्तद् वाक्, यत्र वै वाक् तन्मनः। इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्'।[1] अर्थात् जो मन है वही वाक् है। जहां वाक् है, वही मन है। योनियाँ दो हैं, पर मिथुन एक ही है।' जैसे स्त्री-पुरुष में पृथक् दो योनियाँ होते हुए भी सृष्टि के लिए एक ही मिथुन है; वैसे ही सविता-सावित्री एक ही मिथुन हैं। सविता प्राण, सावित्री अपान है। सविता अमूर्त्त और सावित्री मूर्त है 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चामूर्त्त च'[2]। सविता या ज्ञान अमूर्त्त है, सावित्री या कर्म मूर्त्त है। ज्ञान और कर्म को एक साथ प्रेरित करने की प्रार्थना सावित्री या गायत्री मन्त्र है। अमूर्त्त ज्ञान के लिए मूर्त कर्म की नितान्त आवश्यकता है। अव्यक्त ज्ञान का अवतार मूर्त्त कर्म में होता है। कारलाइल ने Sorrows of Teufelsdroch में एक स्थान पर कहा है—The end of man is an Action, and not a Thought, though it were the noblest"

सविता का वरेण्य भर्ग विना सावित्री की शक्ति के कृतकार्य नहीं हो सकता। प्रात.कालीन सूर्य की सावित्री उषा है। उषा इन्द्रवती या

---

१ गोपथ पू० १।३३॥ २ .. मूर्तं चैवामूर्तं च। बृह० उ० २।३।१॥

प्राणात्मिका है। इसलिए तीसरे मंन्त्र मे सविता-सावित्री (प्राणापान अथवा ज्योति-वर्च)-सयोग दिखाया गया है—

ॐसजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा'[1]
अर्थात् सूर्य के लिए स्वाहा हो, जो सूर्य सविता देव और सावित्री प्राणात्मक उषा से जुष्ट रहता है।

इसी प्रकार सायकाल के अग्निहोत्र में अग्नि सज्ञक प्राण के ज्योति और वर्च रूपो का स्मरण हैं। सायकाल का सविता अग्नि और इन्द्रवती सावित्री रात्रि है। सूर्य और उषा, अग्नि और रात्रि—ये प्राणापान या अग्निषोमाख्य द्वन्द्व के ही कल्पना-भेद हैं।

ये सब अग्निहोत्र-कल्प किस निमित्त हैं? उसी अग्नि की उपासना के लिये, जिसे प्रजापति ने ब्रह्मचारी को सौंपा था। वह आत्मा-रूपी अग्नि अतिथि रूप से सब शरीरों में रहता है, वह वैश्वानर है[2]। प्रजापति ने जन्म लेने के साथ ही अपने आयु के उस पार को देख लिया था। एक तट पर आते ही उन्हे दूसरे तट का ज्ञान हो गया। जो अतिथि आता है, उसका जाना (महायात्रा या महान् सांपराय) भी निश्चित है। वह अतिथि अग्नि अङ्गिरा बना है, सब अङ्गो में रस बनकर वही व्याप्त है। उसके रस से सब अङ्ग हरे रहते हैं, उस अङ्गिरा के पृथक् होते ही 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'[3] वाली गति हो जाती है, अस्थि-पिञ्जर सूखकर गिर जाता है। यह उसी अग्नि की ज्वाला, प्रभा या रोचना है, जो प्राण से अपान तक दौड़ती है—

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥

(यजु० ३ । ४)

जिस अन्तर्यामी की दीप्ति के रूप प्राणापान हैं, उसने अपने परम जन्म को जान लिया है। अन्तश्चारी प्राणापान के द्वारा उस अङ्गिरा अतिथि को समिद्ध और प्रवुद्ध करना ही दिव्य अग्निहोत्र है।

---

१ यजु. ३।१०॥ २ कठो० १ । १ । ७ ॥ ३ कठो० १।६।१॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥
सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥
तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥

आयु का वसंत-काल घृत है, यौवन समिधाएँ हैं। घृत और समिधाओं से अतिथि को समिद्ध करो। बिना जागे हुए जो अतिथि महानिद्रा में सो गया, उसके लिए महती विनष्टि जानो। वह अङ्गिरा यविष्ठ्य--अर्थात् युवतम वा शाश्वत यौवन-सम्पन्न है। वह बृहच्छोचा है--अर्थात् जहाँ सूर्य-चन्द्र का भी तेज नहीं जाता, वहाँ उसके बृहत् शोच या तेज की गति होती है।

प्राणापान के अग्निहोत्र के अतिरिक्त अतिथि को जगाने का और साधन नहीं है। सब अङ्गों में व्याप्त जो रस है, वही अङ्गिरा है। उसे ही प्राण कहते हैं। प्राणाग्नि (Vitality) की अहरह. उपासना के लिए ही दैनिक अग्निहोत्र की विधि है। प्राण ही जीवन का मूल है, प्राण का प्रकृतिस्थ रहना ही सर्वोत्तम स्वास्थ्य है। मानुषी प्राण को दिव्य प्राण के साथ संयुक्त करना प्राण का अमरपन एवं यज्ञ का उद्देश्य है। दिव्य प्राण वही है, जो कभी क्षय को प्राप्त नहीं होता तथा जो अजर, अमर, अरिष्ट रहकर सदा आप्यायित होता रहता है।

---

१ यजु ३।१--३॥

१२–प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे

अथर्व ११।४।१

—※○※○※○※—
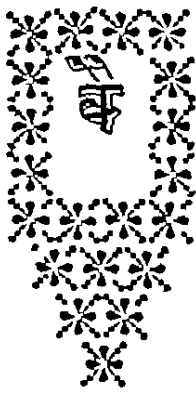
विदेह जनक के बहुदक्षिण यज्ञ के समय कुरु-पञ्चाल देश के ब्रह्मिष्ठ ब्राह्मणों की सभा में विदग्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—

कति देवा याज्ञवल्क्य इति। (बृ० उ० ३।९।१)

याज्ञवल्क्य ने क्रम से ३००३, ३३, ६, २, १ देवों का निरूपण करते हुए अन्त में सर्वमूलक एक देव-स्वरूप का व्याख्यान किया।

कतम एको देव इति? प्राण इति। स ब्रह्म तदित्याचक्षते।

(बृ० उ० ३।९।९)

अर्थात्—वह एक देव कौन-सा है? वह प्राण है। उसे ही ब्रह्म कहा जाता है।

क्षर और अक्षर ब्रह्म प्राण का ही विस्तार है। प्राण ही प्रजापति-रूप से सब के केन्द्रों में (हृदयों में या गर्भ में) बैठा हुआ नाना रूप से प्रकट हो रहा है। ज्ञानी लोग नाभिस्थित उस प्राण-रूप योनि को देखते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर-

जायमानो बहुधा विजायते।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
(यजु० ३१ । १६)

शतपथ ब्राह्मण में इस परिभाषा को स्पष्ट किया है—

प्राणो हि प्रजापतिः । (४ । ५ । ५ । १३)
प्राणो उ वै प्रजापतिः । (८ । ४ । १ । ४)
प्राणः प्रजापतिः । (६ । ३ । १ । ६)

ऊपर याज्ञवल्क्य ने जो सिद्धान्त स्थिर किया है, उसी को अन्य अनेक वैदिक ऋषि-महर्षियों ने भी बहुधा अनेक स्थानों पर प्रतिपादित किया है। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है कि भगवान् कौषीतकि ने भी ऋषिसंघ के सम्मुख इसी तत्त्व को घोषित किया—

'प्राणो ब्रह्म' इति ह स्माह कौषीतकिः । कौ० उ० २ । १ ॥

इसी प्रकार पैङ्ग्य ऋषि ने भी अपने तपोमय अनुभव के आधार पर 'प्राणो ब्रह्म' इस सत्य की व्याख्या की—

'प्राणो ब्रह्म' इति ह स्माह पैङ्ग्यः । कौ० उ० २ । २ ॥

समस्त उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक और संहिताओं में प्राण की महिमा का वर्णन है। प्राण ही आयुरूप से सब में समाविष्ट है। प्राणों के उत्क्रान्त हो जाने पर आयुसूत्र उच्छिन्न हो जाता है।

प्राण ही सब देवों में ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ है। प्राण के स्थित रहने पर अन्य सब देव इस ब्रह्मपुरी मे बस जाते हैं। प्राण ही इस शरीर-रूपी नौका की सुप्रतिष्ठा है—

प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः । श० ४ । ४ । १ । १४ ॥

तथा—

प्राण एष स पुरि शेते । तं पुरि शेते इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते । गोपथ० पू० १ । ३६ ॥

अर्थात्--'प्राण ही शरीर रूपी पुरी में बसने के कारण पुरुष कहा जाता है।' प्राण ही वसु, रुद्र और आदित्य भेदों से प्रकट होता है। प्राण की एक सज्ञा अर्क है--

प्राणो वा अर्कः। (श० १०।४।१।२३)

इस स्थूल देह को प्राण ही अर्चनीय या पूज्य बनाता है। प्राण के निकलते ही इसमें तिरस्कारबुद्धि उत्पन्न हो जाती है और इसे फेंक दिया जाता है। इस कारण प्राण को अर्क कहते हैं। प्राण ही अमृत है--

अमृतमु वै प्राणः। (श० ६।१।२।३२)

इस मर्त्यपिण्ड को अमृतत्व से सयुक्त रखने वाला प्राण ही है। इन्द्र ने प्रतर्दन से यही कहा--

प्रणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतामित्युपास्स्वाऽऽयुः प्राणः प्राणो वा आयुः यावदस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। प्राणेन हि एवास्मिन् लोकेऽमृतत्व माप्नोति (शाखायन आरण्यक ५।२)

अर्थात्--'मैं प्राण-रूप प्रज्ञा (Intelligence) हूं। मुझे आयु और अमृत जानकर उपासना करो। प्राण के रहने तक ही आयु रहती है। प्राण से ही इस लोक में अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जो चित्-शक्ति इस मर्त्य-पिण्ड को उठा कर खड़ा कर देती है, अर्थात् जिसके कारण शक्ति सञ्चार दृष्टिगोचर होता है, वह प्राण ही है--

प्राण एव प्रज्ञात्मा। इदं शरीरं परिगृह्य उत्थापयति। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राणः[1]**।**

जो कुछ भी जगत् में वा शरीर में प्रज्ञान (Intelligence) है, वह प्राण ही है। प्राण की सत्ता से ही मशक से ब्रह्मपर्यन्त सब चैतन्य ओत प्रोत हैं।

---

१ कौ० उ० ३।३॥

प्राण ही उस चित्-शक्ति का महान् लिङ्ग या शेप है। प्राण-रूप शेप (Symbol) से उस परम चैतन्य की ही प्रतीति होती है। इस कारण प्राण की एक संज्ञा शुन शेप भी है। हम में से हर एक प्राणी महाप्राण का एक लिङ्ग है। अश्व और श्वान ये भी प्राण के ही नाम हैं। वस्तुत वैदिक परिभाषा में जितने चैतन्ययुक्त प्राणी हैं, सभी प्राण के वाचक हैं। पुरुष, गौ, अश्व, अजा, अवि, प्राण के ही विशिष्ट नाम हैं। क्या क्षुद्र पिपीलिका और क्या महद् आश्चर्यभूत मनुष्य, सब श्वान्-रूप प्राण के लिङ्ग (Symbols) हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार प्राण ही सोम है, प्राण ही अग्नि है। अग्नीषोमात्मक इस जगत् में एक प्राण ही प्राणापानरूप से द्विधा विभक्त होकर कार्य कर रहा है। प्राण ही मित्र और प्राण ही वरुण है। मैत्रावरुण-सम्बन्धी मन्त्रों में प्राणापान की महिमा या रहस्य बताया गया है। प्राण ही देव है, प्राण ही वालखिल्य है; क्योंकि प्राणों की सन्तति या विस्तार में बाल-मात्र का भी अन्तर नहीं है--

बालमात्रादु हेमे प्राणा असम्भिन्नास्ते यद् बालमात्राद-संभिन्नास्तस्माद्बालखिल्याः। (श० ८।३।४।१)

प्राण ही ऋक्, यजु और साम हैं। प्राण ही रश्मियाँ हैं--

सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः।
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः[1]॥

प्राण ही संवत्सर हैं, प्राण ही सत्य है। प्राण एक बड़ा भारी शिक्य या छींका है, जिसमें सब कुछ बँधा हुआ है। (श० ६।७।१।२०)

ऋषि पूछता है कि इस ब्रह्मपुरी में कौन नहीं सोता--

तदाहुः कोऽस्वप्तु मर्हति, यद्वाव प्राणो जागार तदेव जागरितम् इति। ताड्य १०।४।४॥

---

१ प्रश्नो० १।८॥

प्राण का जागना ही महान् जागरण है। प्रश्नोपनिषद् में भगवान् पिप्पलाद ने बताया है—

प्राणाग्नय एवास्मिन् ब्रह्मपुरे जाग्रति[1]।

अर्थात्—प्राण की अग्नियाँ इस ब्रह्मनगरी-रूप शरीर में सदा जागरूक रहती हैं।

यजुर्वेद में एक मन्त्र है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र
जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ (यजु० ३४।३५।)

प्रायः सभी भाष्यकारों ने इस मन्त्र का प्राणपरक अर्थ किया है। यहाँ तक कि ग्रिफिथ (Griffith) महोदय ने भी यह टिप्पणी दी है।

सप्त ऋषय = सात प्राण।

सात आप् = सात प्राण या इन्द्रियाँ

दो जागने वाले देव = प्राणापान ।

अर्थात्—सात ऋषि इस शरीर में प्रतिष्ठित हैं। प्रमाद-रहित रहकर सात इस की रक्षा में सावधान रहते हैं। सात वहिर्मुखी प्राण-धाराएँ या इन्द्रियाँ सोते समय सोनेवाले के लोक में सहृत हो जाती हैं। उस समय भी स्वप्नरहित रहने वाले दो देव (प्राण और अपान) जागने वाले आत्मा के साथ स्थित रह कर जागते रहते हैं।

प्राण और ऋषि

प्राणों की संज्ञा ऋषि भी है।

प्राणा वा ऋषयः। इमौ एव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमः, अयं भरद्वाजः। इमौ एव विश्वामित्रजमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः,

---

१ प्रश्नो० ४।३॥

अय जमदग्निः। इमौ एव वसिष्ठकश्यपौ। अयमेव वसिष्ठः, अयं कश्यपः। वागेवात्रिः। (बृहदारण्यक उ० २। २। ४)

अर्थात्—सात ऋषि ही सात प्राण हैं। दो कान गोतम और भरद्वाज हैं। दो आँखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। दो नासिकारन्ध्र वसिष्ठ और कश्यप हैं। वाक् अत्रि है।

यह सिर देवकोष है, इसे ही स्वर्गलोक भी कहते हैं—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षाति शिरो अन्नमथो मनः॥
(अथर्व० १०। २। २७)

अर्थात्—यह सिर भली प्रकार मुँदा हुआ देवों का कोष या डिब्बा है। प्राण, मन और अन्न (या वाक्=स्थूलभूत शरीर) उसकी रक्षा करते हैं।

यह प्रकृति की विचित्रता है कि मानुषी शरीर के सप्तर्षि इसी देवकोष या स्वर्ग नामक सिर में ही प्रतिष्ठित हैं। सिर के सात रन्ध्र या विवर सात ऋषियों की भाँति चमकते हैं। शरीर में सिर ही ज्योति या चेतना का केन्द्र है। वहाँ भी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञान या ज्योति ही देवों का प्रकाश है। ज्ञान के विविध केन्द्र ही विविध देव हैं। वे सब देव स्वर्ग नामक सिर में ही वसते हैं। इसी तरह सप्तर्षि-सञ्ज्ञक प्राणों का स्थान भी मस्तिष्क ही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विस्तार से इसे समझाया है—

अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न-
स्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्॥
तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे
वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना'॥

१. (बृ० उ० २। २। ३)

इसकी व्याख्या भी उपनिषद् में दी हुई है। अर्थात् यह सिर ही ऊपर पेंदी और नीचे की ओर मुँहवाला चमस या कटोरा है। इसके किनारों पर सप्तर्षि विराजमान हैं। उसमें ब्रह्म के साथ समनस वाक् आठवीं है।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार ऊपर द्युलोक में सप्तर्षि प्रकाशित हैं, उसी प्रकार इस मस्तिष्क-रूपी द्युलोक में सप्तप्राण-संज्ञक सप्तर्षि विराजमान हैं।

प्राण की विशेष महिमा प्रश्नोपनिषद् (२) में महर्षि पिप्पलाद ने वर्णित की है—

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥
प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति
यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥
देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमः स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥
इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥
यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति ॥ इति ॥
व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥
या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः ॥ इति ॥

अर्थात्--जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी तरह ऋक् यजु-साम, यज्ञ, क्षत्र और ब्रह्म, सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं।

हे प्राण, तुम ही प्रजापति (केन्द्र) रूप से गर्भ में विचरते हो, तुम ही नाना आकृतियों से उत्पन्न होते हो । हे प्राण, क्योंकि तुम चक्षु आदि इन्द्रियों (प्राणों) के साथ शरीर के विविध भागों में स्थित रहते हो, इसलिए तुम्हें ही सब प्रजाएँ अपनी पूजा चढ़ाती हैं।

तुम देवों के लिए सर्वोत्तम हवि के वाहक हो । शरीर की प्राणाग्नि में समर्पित अन्न की आहुति सब इन्द्रिय रूप देवों के पास तुम्हारे द्वारा ही पहुँचती है । और पितरों का भी सब प्रथम अन्न तुम ही हो । अथर्वाङ्गिरस् ऋषियों का भी--जिन्होंने सर्वप्रथम अग्नि को मथ कर यज्ञ-व्यवहार प्रवृत्त किया--सत्य आचरण तुम ही हो [प्राण की दिव्य प्रक्रियाएँ ही यज्ञ का सत्यात्मक कर्मकाण्ड है]।

हे प्राण, तुम अपने तेज से (वस्तुओं का विशकलन करने के लिए) इन्द्र-रूप रुद्र हो । तुम ही परिपालन करने वाले (विष्णु) हो । तुम अन्तरिक्ष सचारी वायु हो । तुम ही ज्योतिष्पति सूर्य हो।

हे प्राण, जिस समय तुम मेघ-रूप में वर्षण करते हो, उस समय सब प्रजाएँ यह समझकर कि 'अब यथेष्ट अन्न होगा' आनन्दित होती हैं--

हे प्राण, तुम व्रात्य हो, अर्थात् व्रत और सस्कारों से परे हो, क्योंकि स्वय शुद्ध हो । तुम-एक ऋषि हो। तुम अन्नाद हो (सोम तुम्हारा अन्न है) । तुम विश्व के पति हो । हम तुम्हारे लिये अन्न समर्पित करते हैं । हे मातरिश्वन्, तुम हमारे पिता हो ।

हे प्राण, तुम्हारा जो रूप हमारी वाक्, श्रोत्र, चक्षु और मन में प्रतिष्ठित है, उसे शिवात्मक बनाओ, कृपा करके इस शरीर में से कभी उत्क्रान्त मत हो।

त्रिलोकी में जो कुछ है, सब प्राण के वशीभूत है। हे प्राण! तुम माता के समान हमारी पुत्रवत् रक्षा करो और हमें श्री और प्रज्ञा का वरदान दो।

जिस समय आश्रमों में ऋषि और ब्रह्मचारी प्राणविद्या के रहस्यों को जानते थे और प्राण के सयम से मानसिक समाधि, पूर्ण स्वास्थ्य और दीर्घ आयुष्य की साधना करते थे, उस पावन काल का यह प्राण-सगीत है। इसमें कहा है कि हे प्राण, तुम विश्वाधायस् जननी के समान हमारी रक्षा करो, हम तुम्हारे पुत्र हैं। ऋषि लोग अपने अन्तेवासियों को प्राण-रूपी माता की गोद में सौंप कर निश्चिन्त हो जाते थे और वे ब्रह्मचारी उस विश्वदोहस् माता के अमृत-जैसे सोम्य मधु तथा दुग्ध का पान करके अमृतत्व और ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति करते थे। सनातन योगविद्या प्राणविद्या का ही दूसरा नाम है। प्राण के रहस्यों का ज्ञान ही योग सम्प्राप्ति है। जो कुछ भी जगत् में बाहर और भीतर है, कुछ भी प्राण से व्यतिरिक्त नहीं है।

अथर्ववेद के प्राणसूक्त में (११।४) अनेक प्रकार से प्राण की महिमा का वर्णन किया गया है। वह सूक्त प्राण का शाश्वत यशोगान है। अथर्ववेद में अन्यत्र (७। ५३। १) प्राण और अपान को देवताओं का वैद्य कहा गया है। ये ही अश्विनीकुमार हैं।

प्रसौहतामश्विना मृत्युमस्मद्
देवानामाग्ने भिषजा शचीभिः।

'हे अश्विनीकुमारो! मृत्यु को हम से दूर करो। तुम देवों के भिषक् हो।' वे दैवी भिषक् अश्विनी कौन से हैं—

संक्रामतं मा जहीतं शरीरं
प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽ-
ग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥[1]

अर्थात्—हे प्राण और अपान, तुम इस शरीर को मत छोड़ो, दोनों सयुज होकर यहीं बसो, जिससे यह मनुष्य शतायु होवे।

प्राणायाम के द्वारा स्वास्थ्य-सम्पादन की विधि दैवी-चिकित्सा है। शरीरस्थ च्यवनप्रक्रिया (Katabolic tendencies) को अश्विनीकुमार या प्राणपान ही सम्यक् रोक कर पुनः स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि कर सकते हैं। शरीरस्थ रसों को फिर से यविष्ठ बनाने वाली विधि भी प्राणायाम ही है। प्राचीन ऋषियों ने प्राणविद्या के रहस्य को जान कर जिस योगविधि का आविष्कार किया, अनन्त काल तक वही विधि अमृतत्व और दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति के लिए सर्वोत्कृष्ट मानी जाती रहेगी। प्राण की प्रतिष्ठा ही अमृतत्व है, प्राण की उत्क्रान्ति ही मृत्यु है। ब्रह्मचर्य ही प्राणप्रतिष्ठा का सर्वोत्तम मार्ग है। सर्व प्रकार की निर्विकारिता ही प्राणों को प्रकृतिस्थ या क्षोभरहित रखती है। ब्राह्मणों में कहा है—

रेतो वै प्राणः[2]।

इस रेत का शरीर में सम्यक् पाचन ही ब्रह्मचर्य है। यही परमतप है। इस ब्रह्मौदन के परिपक्व होने से अमृतत्व उत्पन्न होता है—

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव
यो गायत्र्या अधि पतिर्बभूव।

---

१ अथर्व ७।५३।२॥ २ प्राणो रेतः। ऐ० ब्रा० २।३८॥

यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपाः
तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् ॥

अथर्व ४ । ३५ । ६

अर्थात्--जिस ब्रह्मौदन के शरीर में पक होने से अमृत उत्पन्न होता है, जो गायत्री (ब्रह्मचर्य काल) का अधिपति है, और जिसमें विश्व-रूप वेद प्रतिष्ठित हैं, उस सिद्ध ओदन (=रेत) से मैं मृत्यु के पार जाता हूँ।
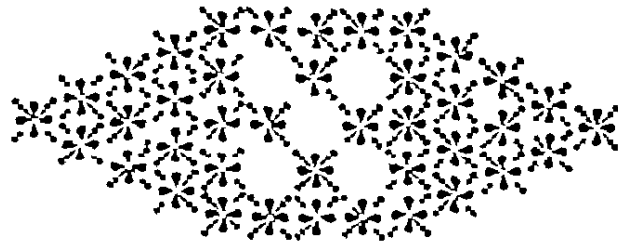
१३—दाक्षायण हिरण्य
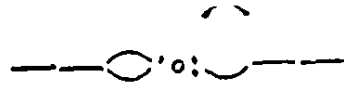
वेदों में अनेक प्रकार से हिरण्य का वर्णन पाया जाता है। हिरण्य सतोगुण का वाचक है। चाँदी रजोगुण और लोहा तमोगुण है। ये ही तीन पुर त्रिपुरासुर दैत्य ने स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वी में बनाए थे।

ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे।
अयस्मयीमेवास्मिंल्लोके,
रजतामन्तरिक्षे,
हरिणी दिवि। शतपथ ३। ४। ४। ३

अर्थात्—असुरों ने इन लोकों में तीन पुर बनाए। अयस्मयी पुरी इस पृथिवी लोक में, रजतमयी पुरी अन्तरिक्ष में और हिरण्यमयी पुरी द्युलोक में। वैदिक परिभाषा में त्रैगुण्य के ही ये तीन नाम हैं। इसके अनुसार हिरण्यमय लोक सर्वश्रेष्ठ तृतीय स्थान द्युलोक है।

यह द्युलोक ही अध्यात्म-शास्त्र में मानुषी मस्तिष्क है। मेरुदण्ड भाग पृथिवी-लोक है। इन दोनों के बीच में अन्तरिक्ष लोक है, जिसमें 'मेरुकन्द' (Spinal bulb) और मस्तिष्क का अधो भाग

(Cerebellum) सम्मिलित हैं। सोम की स्थिति भी स्वर्ग में ही कही गई है। सोम कलश द्युलोक में प्रतिष्ठित है। वस्तुतः अध्यात्म-परिभाषा के अनुसार मस्तिष्क ही सोम से भरा हुआ कलश या पूर्ण कुम्भ है। सोम ही अमृत है। अमृत भी द्युलोक में रहता है, जहाँ देवता उसकी रक्षा करते हैं। मस्तिष्क में भरा हुआ जो रस है, वही सोम है। समाधि-युक्त विचार, सत्य सकल्प, पवित्र भाव, अमृत आशाएँ, सतोमयी बुद्धि, ब्रह्मचारियो की मेधा—इन सब का स्रोत या मूलकारण मस्तिष्क का पवित्र सोम ही है। अर्वाचीन शरीर-विज्ञान के अनुसार भी मस्तिष्क का रस (Cerebral fluid) ही सब प्रकार के स्वास्थ्य और पवित्रता का कारण है। उसी की शुद्धि से मनुष्य में शक्ति और प्राण प्रदीप्त रहते हैं। इस प्रकार के तत्त्व को ध्यान में रखकर ऋषियों ने मस्तिष्क को ही सोम का द्रोण-कलश माना है। इस सोम को यज्ञ में सुवर्ण से मोल लिया जाता है। सुवर्ण क्या है और क्यों सोम-प्राप्ति के लिए सुवर्ण या हिरण्य देना पड़ता है ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

> शुक्रं ह्येतत् शुक्रेण क्रीणाति,
>
> यत्सोमं हिरण्येन। श० ३।३।३।६

अर्थात्—हिरण्य के द्वारा जो सोम खरीदा जाता है, उसका तात्पर्य यह है कि शुक्र के द्वारा शुक्र मोल लिया जाता है। सोम भी शुक्र है और हिरण्य भी शुक्र है। शुक्र, वीर्य, रेत, ये पर्यायवाची हैं। हैं। वस्तुत सोम और हिरण्य भी वीर्य के नामान्तर हैं, यथा—

> रेतः सोमः। श० ३।३।२।१
>
> रेतः हिरण्यम्। तै० ३।८।२।४

वीर्य की शक्ति से ही शरीर के समस्त रसों का पोषण होता है, वीर्य ही प्राणो को शुद्ध और पुष्ट करने वाला है, वीर्य ही

मस्तिष्क को और समस्त नाड़ी-जाल को सींच कर हरा-भरा और वृद्धियुक्त बनाता है, इसलिए वीर्य की आहुति से सोम पुष्ट होता है। वीर्य को शरीर में ही भस्म करके, तेज में परिणत कर लेना, वीर्य के द्वारा सोम को खरीदना है। इसीलिए स्थूल यज्ञ में सुवर्ण से सोम के विनिमय का विधान है। जिसके पास सुवर्ण की पूञ्जी नहीं है, वह सोमपान का आनन्द कैसे उठा सकता है ? हिरण्य से ही, प्राण, आयुष्य, तेज, ज्योति, ओज आदि की प्राप्ति होती है। हिरण्य या शुक्र ही सम्पूर्ण अध्यात्म-जीवन वा नैतिक उन्नति का आधार है। हिरण्य की रक्षा ही महान् तप है। वैदिक कवि हिरण्य और सोम की महिमा का सहस्र मुख से वर्णन करते हैं। ऋग्वेद के पवमान सोम नामक नवम मण्डल में इसी अध्यात्म सोम का वर्णन है, जिसका हमने ऊपर सकेत किया है ।

शरीरस्थ प्राणाग्नि वीर्य या हिरण्य को पचा कर उसकी भस्म बनाकर उसे आकाश-सचारी बनाती है। यह परिणत रेत ही केन्द्रीय नाडी-सस्थान (Central nervous systen) अर्थात् सुषुम्णा के मार्ग से ऊपर उठता हुआ और उरोत्तर तप से शुद्ध होता हुआ मस्तिष्क में पहुँचता है, वहाँ यह दिविस्थ सोम कहलाता है। वहाँ यह मस्तिष्क के सूक्ष्माति-सूक्ष्म यन्त्र से पवित्र किया जाता है । पुन. वह सुषुम्णा की ओर बहता है। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों से जल आकाशगामी होकर पुनः पृथिवी पर आता है, उसो तरह शरीरस्थ रसों के प्रवाह का चक्र भी परिपूर्ण होरहा है। मस्तिष्क में चार वापी [Ventricles] हैं। उनमें यह सोमरस शुद्ध किया जाता है। इन्हें यज्ञ परिभाषा में चमू कहते हैं। इन चारों चमुओं का ऋग्वेद के नवम मण्डल में वर्णन आता है। कहीं पहली और दूसरी वापी को मिला देने से तीन चमुओं का वर्णन है। इन चारों के सधि स्थान त्रिकद्रुक हैं, जहाँ बैठकर देवो ने सोमपान किया ।

सोम और हिरण्य का अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध है। हिरण्य से सोम और सोम से हिरण्य पुष्ट होता है। दोनों ही शुक्र की सज्ञाएँ हैं। इस भाव को समझ कर अब हमें दाक्षायण हिरण्य पर विचार करना चाहिए। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के ३५ वें सूक्त में इस हिरण्य का प्रतिपादन है।

टीकाकारों ने हिरण्य का अर्थ सोना मान कर कई कल्पनाएँ की हैं। कुछ के अनुसार इस सूक्त में सोने के आभूषण पहनने का उपदेश है, क्योंकि उससे आयु की वृद्धि होती है। किसी का मत है कि सुवर्ण को पर्पटी अथवा सुवर्ण-भस्म के रूप में खाना चाहिए, इससे भी आयु प्राप्त होती है। हमारी समझ में ये अर्थ स्थूल हैं और केवल एक अंश में ही सत्य हो सकते हैं। सूक्त का विशद अर्थ अध्यात्मपरक ही है। वीर्य-रूप हिरण्य की रक्षा का यहाँ मुख्यत. उपदेश है। सब देवों की सुमनस्यमान(Harmonised) स्थिति से ही वीर्य की रक्षा हो सकती है। जब इन्द्रियाँ और प्राण एक चित्त हो कर प्रयत्न करते हैं, तभी सब ओरसे पवित्र विचारो का दृढ़ दुर्ग तैयार होता है।

आयु की सौ वर्ष की वैदिक मर्यादा की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य-आश्रम की निर्विकार स्थिति आवश्यक है। प्रथम आश्रम मे जिसने अपने हिरण्य का सचय किया है, वही आयु की पूरी मर्यादा का भोग करता है। यह सुवर्ण देवो का सर्वश्रेष्ठ या प्रथमज ओज है। यह सब इन्द्रिय-तेजों में श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है। इसके सामने पाप नही ठहर सकते। इस पावक में पाप-रूपी तिनके तुरन्त भस्म हो जाते हैं।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते
देवानामोजः प्रथमजं ह्येतव ॥ अथर्व १। ३५। २॥

आयु, वर्चस् और वल की प्राप्ति के लिए हिरण्य की रक्षा की जाती है, यह दाक्षायण है। दक्ष का तात्पर्य वीर्य अर्थात् शक्ति है।

सब प्रकार की शक्तियों का अयन दाक्षायण है। रेत ही सब वीर्यों का अधिष्ठान है। प्रत्येक पुरुष शतानीक है। प्राण शतानीक है, वह विश्वतोमुख है अथवा वह सब सेनाओं का सेनानी है। सेनानी को भी अनीक कहते हैं। प्राण-रूप शतानीक के लिए दाक्षायणों ने हिरण्य को कल्पित किया। दक्ष वरुण की सञ्ज्ञा है। क्रतु मित्र को कहते हैं—

क्रतूदक्षौ ह वाऽस्य मित्रावरुणौ।
मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षः ॥ श० ४।१।४।१॥

क्रतुदक्ष, प्राणापान, मित्रावरुण ये, द्वन्द्व हैं। अपान से प्राण की ओर ले जाने वाली वायु स्वास्थ्य की सूचक है। दक्षिण से उत्तर को चलने वाली प्राणवायु मातरिश्वा कहलाती है। अपने शरीर में बिना इस वायु की सहायता के कोई ऊर्ध्वरेत हो ही नहीं सकता। स्वाधिष्ठान स्थान दक्षिण है, मस्तिष्क उदीची दिशा है। स्वाधिष्ठान ही वीर्य का क्षेत्र है। वहाँ से प्राण जब मस्तिष्क की ओर प्रवाहित होता है। तभी पुरुष ऊर्ध्वरेता बनता है।

स्वाधिष्ठान प्रदेश में जलतत्त्व प्रधान है। वीर्य या रेत भी जल का ही रूप है। ऐतरेय उपनिषद् (ख० २) में लिखा है—

आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।

अर्थात्—जल रेत रूप में स्वाधिष्ठान चक्र में रहते हैं। यहीं से ये शरीर में व्याप्त होकर उसे पुष्ट करते हैं। जिस हिरण्य को हम बाँधना चाहते हैं, उसे ऋषि ने जलों का तेज, ज्योति, ओज और बल कहा है। जल ही रस हैं। रसों में अग्रणी रस रेत ही है। सब वनस्पतियों के वीर्य भी हिरण्य-रूप ही हैं। स्थूल अन्न से ही रस उत्पन्न होता है। पुन. उसी के क्रमश. परिपाक होने से रेत बनता है।

प्रत्येक मास, ऋतु, अयन और संवत्सर में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के अन्दर से प्राण-रूपी रस का नये-नये प्रकार से क्षरण होता है। शरीर के भीतर बाल्य, यौवन और जरा में विचित्र-विचित्र रस अपने समय से उत्पन्न होते हैं। उनको विधिपूर्वक शरीर में ही पूर्ण कर लेने से आयुष्य की वृद्धि होती है। इसी प्रकार वसन्त, ग्रीष्म और शरद् में तथा कृष्ण और शुक्ल पक्षों के ह्रास-वृद्धि क्रम में औषध-वनस्पतियों में अनेक रसों का प्रादुर्भाव होता है। उनसे वनस्पति पुष्ट होती हैं। वे रस हमारे लिए तभी अनुकूल हो सकते हैं, जब हम हिरण्य की रक्षा करते हैं। इन्द्र और अग्नि सात्त्विक प्राणापान के नाम हैं। वे हमारे लिए हिरण्य-रक्षा की अनुमति देते हैं।

१४–वरुण की पृश्नि गौ

—❀⊂❀—

वरुण के पास एक गौ थी। रंग-विरंगी होने के कारण उसका नाम पृश्नि था। वरुण ने वह पृश्नि अथर्वा ऋषि को दक्षिणा में दी। कुछ काल बाद वरुण ने उस गौ को वापिस चाहा। इस पर वरुण और अथर्वा में एक संवाद हुआ, और अथर्वा के यह सिद्ध कर देने पर कि उसमें उस गौ के रखने की योग्यता है, वरुण ने वह पृश्नि अथर्वा के पास ही रहने दी।

यह रोचक संवाद अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड के एकादश सूक्त में निम्न प्रकार से दिया हुआ है—

अथर्वा—हे महाबलशाली वरुण, किस प्रकार महान् असुर द्युलोक और हिरण्यवर्ण सूर्य की साक्षी में तुम इस प्रकार की बात कहते हो? जो पृश्नि गौ तुमने एक बार दक्षिणा में दी, क्यों उसे वापिस लेने की इच्छा से तुम उस पर फिर अपना मन लगाते हो?

वरुण—अरे, कुछ कामनावश मैं उस दी हुई गौ को वापिस नहीं माँगता। यह पृश्नि तो मैं उनको देता हूँ, जो इस पर 'चक्षण' या ध्यान करने के अधिकारी हैं।

हे अथर्वा, तुम्हारे अन्दर क्या ज्ञान है, और किस स्वभाव-जनित विद्या से तुम सृष्टि के पदार्थों को जानने वाले हो? किस

काव्य और ज्ञान के बल पर तुम जातवेदा पद के अधिकारी अपने को कह सकते हो ? इस पृश्नि का स्वामित्व करने के लिए जातवेदा होना आवश्यक है ।

अथर्वा—हे वरुण, सुनो, सत्य कहता हूँ। मैं ज्ञान के द्वारा आत्म-स्वरूप हूँ । मैं स्वभावज बोध के कारण जातवेदा हूँ। क्या मजाल कि जिस व्रत को मैं धारण करूँ, कोई भी नीच या ऊँच उसके उल्लङ्घन का साहस कर सके।

हे अपने वीर्य से गुप्त वरुण, तुम से बढ़ कर कवि और कौन है ? मुझे यह भी विदित है कि मेधाशक्ति में भी तुम्हारे समान स्थिर ध्यानी अन्य कोई नहीं है। तुम से विश्व-भुवन में कुछ भी छिपा हुआ नहीं है । कौन तुम्हारे ज्ञान से बाहर है ? कैसा भी मायावी हो, तुम्हारे सामने कॉप उठता है। हे वरुण, तुम सुन्दर नीति के प्रदर्शक हो, तुम वीर्ययुक्त हो, हम सब के जन्म-कर्म को जानते हो। हे अमूर्छित ज्ञान वाले देव, इस लोक से परे क्या है और उस से इस ओर क्या है ?

वरुण—हे अथर्वा, एक तत्त्व इस लोक के उस पार है और उस लोक के इस पार भी एक ही अलभ्य तत्त्व है। मै जानने वाला हूँ, इसलिए तुम से कहता हूँ । नहीं जानने वाले सकीर्ण-बुद्धि नरों के अधोवचनों का क्या प्रमाण है ? दास बुद्धि की पूजा करने वाले मूर्ख नो पैरों के नीचे की धूलि के समान हैं।

अथर्वा—हे वरुण, मन से एक बार जिस के दान को सकल्प कर चुके, उसे वापिस मॉगने वाले पामरों के लिए तुमने क्या अवाच्य नहीं कहे हैं ? कहीं उन्हीं गृध्नु प्राणियों में तुम्हारा भी नाम न लिया जाय और कही तुम्हें भी लोग अदानशील न कहने लगें ।

वरुण—हे स्तुति ज्ञान करने वाले, ऐसा नहीं होगा । मुझे लोग अदानी नहीं कह सकेंगे, कारण कि तुम्हें योग्य अधिकारी जानकर मैं

पुन. उस पृश्नि को देता हूँ। जहाँ-जहाँ मनुष्य बसते हों, अपनी पूरी शक्ति से इस यश को सुना दो ।

अथर्वा—अच्छा, जहाँ मनुष्यों का निवास है, उन मानुषी दिशाओ में यह स्तोत्र प्रचारित होगा; परन्तु हे देव, अब मुझे वह वर दो, जो नही दिया है। तुम मेरे सप्तपद सखा हो। हे वरुण, हमारा तुम्हारा एक ही आदि कारण है, हम दोनों ही बन्धु हैं। अपने उस समान सम्बन्ध का मुझे ज्ञान है।

वरुण—हे अथर्वा, उस वर को, जो पहले नहीं दिया, स्वीकार करो। अब उसे देता हूँ, क्यों कि मैं तुम्हारा सप्तपद सखा हूँ। गान करने वाले भक्त के लिए मैं जीवन देने वाला देव हूँ। स्तुति करने वाले विप्र के लिए मैं सुमेधा विप्र हूँ।

हे वरुण, तुमने हम सबके पिता, देवों के मित्र अथर्वा को उत्पन्न किया और उसको उत्तमोत्तम सामग्री दी। तुम हमारे भी सखा और परम बन्धु हो।

पृश्नि कौन है ?

यह उपाख्यान हम सब के जीवन मे चरितार्थ होने वाले एक आध्यात्मिक नियम की व्याख्या करता है। वरुण की पृश्नि गौ यह प्रकृति है। यह गौ पृश्नि या चित्र-विचित्र रङ्ग की कही गई है, प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका होने के कारण शबला है। अजा रूप में प्रकृति को लाल, सफेद और काले रग वाली कहा गया है[1]। सत्त्व, रज और तम के कारण प्रकृति पृश्नि है। यह प्रकृति सतत परिवर्तनशील होने के कारण जगती है। प्रकृति को अदिति भी कहा है। अदिति की उपमा भी गौ से दी गई है, अत एव प्रकृति की वैदिक सञ्ज्ञा गौ समझनी चाहिए। जब हम जन्म लेते हैं, तभी इस गौ से

१ अजामेका लोहितशुक्लकृष्णाम्। श्वेता० ४।५॥

हमारा सम्बन्ध होता है। आयु के प्रथम भाग अर्थात् बाल्यकाल में इस गौ पर हमारा अधिकार निर्धारित एवं स्पष्ट नहीं होता। प्रकृति माता के अनागस शिशुओं की भाँति हम बाल्यकाल में इस गौ का स्तन्यपान करते रहते हैं। यही वरुण का प्रथम दान है।

परन्तु जब हम जीवन के दूसरे भाग में पदार्पण करते हैं, तब पाप और पुण्य का विवेक हमारी बुद्धि में जागरित होता है। उस समय हमारी योग्यता और हमारे अधिकार की परीक्षा ली जाती है।

विश्व का नियमन करने वाले सर्वव्यापी नियमों की संज्ञा ऋत है। ऋत का अधिष्ठाता वरुण है। जो वरुण के ऋत को जानता है वही इस विचित्ररूपी गौ का स्तन्यपान करता हुआ भी निष्पाप रह सकता है। जो निष्पाप और निष्कल्मष है, उसे ही वरुण के पाश नहीं बाँधते। वरुण उस मनुष्य से प्रसन्न होता है, जो अनागस रहता हुआ जिह्म पथ का त्याग करता है। जिह्म या वक्र गति ही मृत्यु का पद है। ऋजु या ऋतमय प्रगति (Right path) ही अमृत या मोक्ष है। वरुण ज्ञानी के पास आकर पूछता है—क्या तुम्हारे भीतर ज्ञानकृत गम्भीरता है, क्या तुम जातवेदा हो? किस बल पर तुम प्रकृति-रूपी पृश्नि का अधिकार चाहते हो? अथर्वा कहता है—हाँ, सत्य कहता हूँ, मैं काव्य से गम्भीर हूँ, मैं जातवेदा हूँ। जिस व्रत को मैं धारण करूँ, दास और आर्य दोनों उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते। यह मेरा तेज है—

सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये॥

अथर्व ५।११।३

इस प्रकार की धीर स्थिति जिस पुरुष में हो, वह प्रकृति के बीच में रहता हुआ भी उसके प्रलोभनों से निर्विकार रहता है। जिस व्यक्ति

की धारणा में इतना बल है, जिसका ध्यान इतना तेजस्वी है, उसी के लिए पृश्नि-रूपी प्रकृति का साम्राज्य उन्मुक्त है। अपने जन्मसिद्ध अधिकार से वह इस विश्व-रूपी धेनु का स्वामी होने की योग्यता रखता है। विकारों के वश में होकर जो इस गौ का दुग्धपान करना चाहते हैं, उन अध.स्थित पामरो के लिए, अथवा सकीर्णाशय प्राणियों के लिए यह सुरभि अपने अमृत-निष्यन्द का प्रस्रवण नहीं करती।

प्रकृति के विराट् नियम अन्याय से किसी को इस अमृतस्तन्य से वचित नहीं रखते। वरुण ने कहा भी है कि मैं लोभ या काम से इस पृश्नि गौ को वापिस नहीं चाहता हूँ। क्रान्तिदर्शिनी प्रज्ञा के बिना कौन इस महार्घ दक्षिणा को रख सकता है? 'गम्भीर' आत्मा की भी एक सज्ञा है। जो आत्मज्ञानी हैं, वे ही जन्मतः इस दक्षिणा के पात्र हैं। अथर्वा का एक प्रश्न ही वरुण के परितोष के लिए पर्याप्त है। वह पूछता है कि इस लोक के उस पार और इस पार अन्य तत्त्व क्या है? वरुण कहते हैं कि उभयत्र एक ही तत्त्व निहित है। इहलोक और परलोक में एक ही ऋत का आधिपत्य है। वेन ऋषि ने कहा है कि विश्व-भुवनो में घूमने के बाद भी मैंने सर्वत्र एक ही ऋत-तन्तु को फैले हुए देखा —

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥

अथर्व २।१।५॥

उस ऋत-पन्थ पर चलना ही जीवन की अमृतगति है जीवन की बहुमुखी साधनाओं के भीतर से आर्य महाप्रजाओं की युग-युग व्यापिनी अभिलाषा एक ही प्रकार से प्रकट होती रही है, अर्थात्—

ऋतस्य पन्थामनुचरेम धीराः ।

ऋत-मार्ग से जीवन-यापन करने वालों के लिए वरुण की पृश्नि गौ कामधेनु के तुल्य समस्त कामनाओ का प्रसव करती है। यह भी ससार

का विचित्र नियम है। जो ज्ञानी हैं और विकारों को वश में रखते हैं और जिन के भोग धर्म-परायण मार्ग से प्रवृत्त होते हैं, उनके लिए तो प्रकृति-रूपी कामदुघा गौ पुष्कल आशीर्वादों के साथ फलवती होती है, उनकी गति प्रकृति के राज्य मे चारों ओर निर्बाध देखी जाती है। वे विराट् के क्षेत्र में प्रकृति के साथ तन्मय होते हैं। इसके विपरीत वे लोग हैं जो काम-कामी हैं। वे प्राकृतिक भोगों को बड़ा लाभ मान कर प्रकृति के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, परन्तु देखा यह जाता है कि उनकी तृष्णा विशाल होते हुए भी भोग-शक्ति सीमित है, अत एव प्रकृति के साथ उनका सम्बन्ध अत्यन्त क्षुद्र रहता है। प्राकृतिक आनन्द की स्वल्पतम मात्रा से ही उनका परिचय रहता है। पृश्नि गौ का स्वामित्व उन्हें नही प्राप्त हो सकता। उसकी सेवा के कष्ट-भाजनमात्र वे बन सकते हैं। कहाँ एक ओर गम्भीर ज्ञानी, यशस्वी जातवेदा, तपोनिष्ठ विप्र, जिनके लिए सर्वत्र आनन्द और मुक्ति का सन्देश है। कहाँ दूसरी ओर भोगस्खलित सूचीमुख प्रेतों के समान तृष्णार्त प्राणी, जिनके लिए सर्वत्र मृत्यु और क्षुद्रता का जाल बिछा हुआ है। यही महान् अन्तर पृश्नि गौ के स्वामी और दास का है। अमृतत्व धर्म के जन्मदाता आर्य ऋषियो ने इस विश्व-रूपी विचित्र प्रकृति के साथ अपने सम्बन्ध की योग्यता सिद्ध करने के लिए जो शाश्वती घोषणा की है, उसे आज भी हम सुन रहे हैं—

सत्यमहं गभीरः काव्येन
सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः।

अथर्ववेद ५।११।३

१५—चरैवेति-चरैवेति
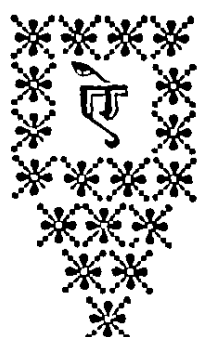
ऐतरेय ब्राह्मण के शुन.शेप उपाख्यान[1] में एक सुन्दर वैदिक गीत दिया हुआ है। इस गीत का अन्तरा है—'चरैवेति-चरैवेति' अर्थात् चलते रहो, चलते रहो।

इसकी कथा यों है। राजा हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नही था। उसने पर्वत और नारद नाम के ऋषियों से उपाय पूछा। उन्होंने कहा कि तुम वरुण की उपासना करो। वह वरुण के पास गया कि मुझे पुत्र दो। उससे तुम्हारा यजन करूगा। वरुण ने कहा—तथास्तु। हरिश्चन्द्र के पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम रोहित रक्खा गया। वरुण ने कहा—तुम्हारे पुत्र हो गया, इसको मेरी भेंट करो। हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी पशु है, दस दिन का भी नहीं हुआ। दस दिन का होजाय, तब यज्ञीय होगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

वह पुत्र दस दिन का हो गया, वरुण ने आकर कहा—दस दिन का हो चुका, अब यजन करो।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी दाँत भी नही निकले, जब दाँत निकल आवेंगे, तब मेध्य होगा। दाँत निकल आने दो, तब यजन कर दूँगा।

---

१ ऐ० ब्रा० ७। १३-१७॥

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके दाँत निकल आये। तब वरुण फिर आ पहुँचा—अब तो दाँत निकल आये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी निरा पशु है, जब दूध के दाँत गिर जायेंगे, तब यज्ञीय होगा। दाँत गिर जाने दो, तब यजन करूँगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके दूध के दाँत भी गिर गये। वरुण ने फिर माँगा–अब तो दूध के भी दाँत गिर गये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—जब नये दाँत निकल आते हैं, तब मेध्य होता है। ज़रा नये दाँत जम आने दो, फिर यजन करूँगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके नये दाँत भी जम आये। वरुण ने फिर टोका—नये दाँत भी निकल आये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—यह क्षत्रिय का बालक है। क्षत्रिय-पुत्र जब कवच धारण करने लगता है, तब किसी काम के योग्य (मेध्य या यज्ञीय) होता है। बस कवच पहनने लगे, तो तुम्हारे लिए इसका यजन करदूँ।

वरुन ने कहा—अच्छा।

वह कवच भी धारण करने लगा। तब वरुण ने हरिश्चन्द्र को छेका—अब तो कवच भी पहनने लगा, अब यजन करो।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अच्छी बात है, कल आना। उसने रातों-रात पुत्र से सलाह की और उसे जङ्गल में भगा दिया। दूसरे दिन जब वरुण पहुँचा, तो कह दिया—वह तो कहीं भाग गया।

अब वरुण के उग्र नियमो ने हरिश्चन्द्र को पकडा। उसके जलोदर हो गया। रोहित ने जङ्गल में पिता के कष्ट का समाचार सुना। वह वहाँ से वस्ती की ओर लौटा। तब इन्द्र पुरुष का वेष बना कर उसके सामने आया और निम्न-लिखित गीत का एक-एक श्लोक एक-एक वर्ष बाद उसे सुनाता रहा। इस प्रकार पाँच वर्षों में यह सचरण-गीत पूरा हुआ और पाँच वर्षों तक रोहित अरण्य मे घूमता रहा।

गीत इस प्रकार है—

(१)

चरैवेति-चरैवेति

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥
चरैवेति, चरैवेति।

हे रोहित, सुनते हैं कि श्रम से जो नहीं थका, ऐसे पुरुष को लक्ष्मी नहीं मिलती। बैठे हुए आदमी को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसी का मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(२)

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति, चरैवेति।

जो पुरुष चलता रहता है, उसकी जाँघो में फूल फूलते हैं, उसकी आत्मा भूषित होकर फल प्राप्त करती है। चलने वाले के पाप थक कर सोये रहते हैं। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(३)

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥
चरैवेति, चरैवेति ।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होने वाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है, पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(४)

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥
चरैवेति, चरैवेति ।

सोने वाले का नाम कलि है, अङ्गड़ाई लेने वाला द्वापर है, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सत-युगी है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(५)

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥
चरैवेति, चरैवेति ।

चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है, सूर्य का परिश्रम देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

इस सुन्दर गीत में इन्द्र ने रोहित को सदा चलते रहने की शिक्षा दी है। इन्द्र को यह शिक्षा किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण से मिली थी। गीत का वास्तविक अभिप्राय आध्यात्मिक है। चलते रहो-

चलते रहो, क्योंकि चलने का नाम ही जीवन है। ठहरा हुआ पानी सड जाता है, बैठा हुआ मनुष्य पापी होता है। बहने हुए पानी में जिन्दगी रहती है, वही वायु और सूर्य के प्राण-भण्डार में से प्राण को अपनाता है। पड़ाव डालने का नाम जिन्दगी नहीं है। जीवन के रास्ते में थक कर सो जाना, या आलसी बन कर बसेरा ले लेना मूर्च्छा है। जागने का नाम जीवन है। जागृति ही गति है। निद्रा मृत्यु है। अध्यात्म के मार्ग में बराबर आगे कदम बढ़ाते रहो, सदा कानो में 'चलते रहो, चलते रहो' की ही ध्वनि गूँजती रहे। वह देखो अनन्त आकाश को पार करता हुआ और अपरिमित लोको का भ्रमण करता हुआ सूर्य प्रात काल आकर हम में से प्रत्येक के जीवन-द्वार पर यही अलख जागता है—

'चलते रहो, चलते रहो'

इन्द्र तो चलने वालो का ही सखा है। (इन्द्र इच्चरतः सखा[1]) आत्मा उनका ही स्वयवर करती है, जो मार्ग में चल रहे हों, एक पद के बाद दूसरा पद शीघ्र उठाते हुए अध्यात्म के अनन्त पथ को चीरते चले जाते हैं। उपनिषदों में कहा भी है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः[2]।

अथवा—

न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्[3]।

जिसके सकल्प मजबूत नहीं हैं, जो प्रमादी और मिथ्याचारी है, उसे आत्मदर्शन नहीं हो सकता। ईश्वर उनकी सहायता करता है, जो स्वय अपनी सहायता करने हैं। कमर कस कर खड़े हो जाने वालों का ही इन्द्र मित्र है। जो वेग से रास्ते को पार करते चले जाते

१ देखो पृ० १०६ गीता १।

२ मुण्डको० ३।२।५॥

३ मुण्डको० ३।२।४॥

हैं, जो पैर उठाकर पश्चात्पद होना नहीं जानते, जो सोते-जागते सदा जागरूक बने हुए हैं, वे ही सच्चे पथिक हैं। उन्होंने संसार के आतिथ्य धर्म को ठीक समझ लिया है। आत्मा इस देह में एक अतिथि है। 'अतति सन्ततं गच्छति इति अतिथिः' 'अत सातत्यगमने' धातु से 'इथिन्' प्रत्यय लगाकर अतिथि बनता है। 'अतति सन्ततं गच्छति इति आत्मा' उसी 'अत सातत्यगमने' धातु से मनिन् प्रत्यय लगाकर आत्मा बनता है। यही सूत्र सदा स्मरणीय है—

अतिथिरात्मा।

आत्मा ही क्षेत्रपति शम्भु है। इस शरीर की संज्ञा क्षेत्र है। आत्मा क्षेत्रज्ञ या क्षेत्रपति है। हम नित्य के शान्तिपाठ में कहते हैं—

शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः[1]।

हमारे क्षेत्रपति आत्मा का अहरह कल्याण हो, वह सतत स्वस्तिमान् हो। इसी आत्माग्नि को संबोधन करके कहा जाता है—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्[2]।

समिधाओं से इस अग्नि की उपासना करो और घृत की धाराओं से उस अतिथि को जगाओ। ब्रह्मचर्यकाल या आयु का वसन्तकाल घृत की धाराएँ हैं, इसी समय रसों का परिपाक होता है। यौवन या ग्रीष्म ही समिधाएँ या ईंधन हैं। कहा भी है—

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः[3]।

अतिथि आत्मा का हित चलते रहने में है। घर बनाकर डेरा डालना उसके स्वभाव के प्रतिकूल है। भोग और विषय दुर्गन्ध से भरे हुए हैं। उनके मध्य में तृप्ति मान लेने वाले को असली माधुर्य का पता ही नहीं लगा। सब विद्याओं से बड़ी मधुविद्या है। आत्म-ज्ञान या अध्यात्मविद्या का ही नाम मधुविद्या है, जिसे इन्द्र ने दध्यङ्

---

१. ऋ० ७।३५।१०॥ २ यजुः ३।१॥ ३ यजु. ३१।१४॥

अथर्वा को सिखाया था । यही परम मधु है । इस रस के बराबर और किसी रस में मिठास नही है । आत्मा रस-स्वरूप ही है—

रसो वै सः[1] ।

एक बार जो इस मधु का स्वाद पा जाते हैं, वे पुन दूसरे माधुर्य की चाहना नहीं करते । यह मधु चलते रहने से ही मिल सकता है—

चरन् वै मधु विन्दति[2] ।

अध्यात्म-मार्ग के दृढ़ पथिक ही इस मधु को चखते हैं, वे ही ऐसे सुपर्ण हैं, जो ससार-रूपी अश्वत्थ वृक्ष के स्वादु या मधुर फल को खाने योग्य (मध्वद) होते हैं ।

---

१ तैत्ति० उ० ब्रह्मा० ७ । २ द्र० पृ० १०७, गीत ५ ।

१६—शुनःशेप

हाभारत के अश्वमेधपर्वान्तर्गत कृष्ण-युधिष्ठिर संवाद में मृत्यु और अमृत्यु का यह लक्षण किया गया है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥

अर्थात्—कुटिल जीवन का नाम मृत्यु और ऋजु जीवन ब्रह्मपद किंवा मोक्ष का मार्ग है। ज्ञान का सार इतना ही है। कुटिलता अनृत और सरलता ऋत का पन्थ है। लोक-लोकान्तरों में ऋत का अन्तर्यामी सूत्र पिरोया हुआ है, समस्त चराचर उसी ऋत या आर्जव-युक्त मार्ग से गतिशील हो रहे हैं। ग्रह, उपग्रह, सूर्य, नक्षत्र सब ऋत के अनुगामी हैं। वही उनका प्रकृति विहित संचरण मार्ग है—

ऋत=Right path Orbit

विराट् जगत् की दिव्य शक्तियाँ या देव ऋत के निर्धारित मार्ग से अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। इसीलिए ऋषियों ने देवों का लक्षण किया है—

सत्यसंहिता वै देवाः। अनृतसंहिता मनुष्याः।

ऐत० ब्रा० १।६॥

अर्थात्--देव सत्य से युक्त होते हैं और मनुष्य अनृत से भरे हुए ।

अथवा—

सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः । शत० १।१।१।४॥

देव और मनुष्य का अन्तर सत्य और अनृत का अन्तर है। शरीर धारण करके मनुष्य होने के नाते हम अनृत में सने हुए हैं। उस अनृत का क्रमश परित्याग करके सत्य की प्राप्ति ही मोक्ष-प्राप्ति है। समस्त यज्ञों के प्रतिपादक यजुर्वेद में पहली प्रतिज्ञा यजमान के लिए यही है कि हम अनृत से छूट कर सत्य की प्राप्ति करें—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं, तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ यजु० १।५॥

विश्व के नियम जिनका पालन जीवन का मूल है, व्रत-स्वरूप हैं। *व्रताचरण की समष्टि का नाम ही जीवन है।* हम सदा इस शिव-सकल्प की उपासना करते हैं कि हमारे अन्दर व्रत-परिपालन की शक्ति हो। व्रतो पर आरूढ़ रहने का वीर्य ही जीवन का मूल्य है। जीवन में व्रतों का आराधन ही सच्ची धीरता है। हमारे व्रतो का पालन सफलीभूत हो। यज्ञ में ग्रहण की हुई दीक्षा या सकल्प के द्वारा हम अनृत से सत्य को प्राप्त होते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि अनृत ही वक्रता है। जहाँ कुटिलता है, वहीं वरुण क उग्र पाश अपना घेरा डालकर हमें जकड़ लेते हैं—

अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति ।

तै० ब्रा० १।७।२।६॥

जहाँ क्षुद्रता और सकीर्णता का साम्राज्य है, वहाँ विराट् जीवन की ओर से मनुष्य पराङ्मुख रहना है, जहाँ अन्धकार, पाप

और मलीमसी वृत्तियों का निवास है, वही इन्द्र का साम्राज्य हट जाता है, और उसके स्थान में वरुण के पाशों का बन्धन आ दबाता है। कौन मनुष्य ऐसा है, जो सुरक्षा चाहता हुआ भी वरुण के व्रतों के शासन से द्रोह करे, क्योंकि—

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि।

ऋ० १। २४। १०

वरुण के व्रत अलङ्घनीय हैं। उन व्रतों की अवहेलना करने से हम कल्याण की आशा नहीं कर सकते। प्रकाश, सत्य, श्री—ये अमृत जीवन के चिह्न हैं। इसके विपरीत तम, अनृत और अश्लीलता—ये मृत्यु के उपलक्षण हैं।

सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः। अनृतं पाप्मा तमः सुरा॥

शत० ५। १। २। १०

इसी द्वन्द्व का नाम देव और असुर या सोम और सुरा भी है। देहधारियों के लिए प्रजापति के द्वारा कल्पित ये सनातन मार्ग हैं। एक अर्चि मार्ग और दूसरा धूम मार्ग है। धूम मार्ग कृष्ण या तम और पाप से भरा हुआ है। उसके परिणाम में मृत्यु और विनाश के फल हैं। वहां मृत्यु के देवता या निर्ऋति का साम्राज्य रहता है—

घोरा वै निर्ऋतिः[1]।
कृष्णा वै निर्ऋतिः[2]।
पाप्मा वै निर्ऋतिः[3]।
नैर्ऋतो वै पाशः[4]।

---

[1] श० ७। २। १। ११॥ [2] श० ७। २। १। ७॥
[3] श० ७। २। १। १॥ [4] श० ७। २। १। १५॥

जहा पाप है, वहीं निर्ऋति या मृत्यु है। जहां निर्ऋति है वहीं बन्धन है। निर्ऋति के पाशों से जो नहीं छूटा, वह अमर जीवन की अभिलाषा कैसे कर सकता है। जीवन की सब से बड़ी चतुराई यही प्रतीत होती है कि मनुष्य ज्योति और तम को अलग-अलग पहचान कर उनका संकर (minfure) करने से बचा रहे —

न इत् ज्योतिश्च तमश्च संसृजाव इति।

शत० ५। १। २। १७

हमारे मानवी जीवन के लिए, जिसका अजस्र सम्बन्ध ज्योति के साथ है, सर्वोत्तम यही अभिलाषा हो सकती है कि हम असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर, तथा मृत्यु से अमृत की ओर अग्रसर हो—

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमयं।

अमृत या प्रकाश का मार्ग जितना विशाल है, अन्धकार का मार्ग उतना ही सकीर्ण है। अमृत-मार्ग को ऋषियों ने 'उरु-पन्थ' (ऋ० १। २४। ८) कहा है। इस राजमार्ग को छोड कर भी जो हम अपने वक्र कुटिल एव सकीर्ण पथों का आश्रय लेते हैं, यही हमारा अज्ञान या मोह है। ऋजु मार्ग एक, और वक्र मार्ग अनेक होते हैं। अमृत-पद या ब्रह्म-पद एक है, मृत्यु के पद नाना हैं। व्यवसायात्मिका बुद्धि की उपासना करने से हम आनन्दित होते हैं, इस के विपरीत नाना व्यामोहों में पडकर नाश के मुख में चले जाते हैं।

---

१ बृह० उ० १। ३। २८॥

शुनःशेप की कथा

ऐतरेय ब्राह्मण में एक कथा है। उसके अनुसार अजीगर्त ऋषि का पुत्र शुन शेप था। हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहिताश्व की जगह शुनःशेप को यज्ञ के यूप में बाँध कर वरुण की प्रसन्नता के लिए उसका बलिदान करना चाहा। शुनःशेप को अवश्य होने वाली मृत्यु सामने नाचती दिखाई पड़ी। आत्म-रक्षा का कोई उपाय उसकी समझ में नहीं आया। तब वह अनन्यभाव से सत्यव्रतो का स्मरण कर के वरुण की ही शरण में गया और प्रार्थना करने लगा। उसकी स्तुति से वरुण प्रसन्न हुए और मृत्यु की क्षुद्रता से ऊपर उठे हुए शुन.शेप के समस्त आध्यात्मिक बन्धन एक एक करके छूट पडे। वह अमृत पुत्र बन कर दिव्य प्राण के साथ तन्मय हो गया।

शुनःशेप कौन है ?

यह शुन शेप कौन है, जो वरुण के पाशों से जकडा हुआ है? श्वा नाम प्राण का है; क्योंकि प्राण की सत्ता से ही अणुरूप में गर्भित प्राणी क्रमश सवर्धित होकर जन्म लेता है। यदि प्राण की कृपा न हो, तो मातृकुक्षि में बना हुआ हिरण्यगर्भ पिण्ड अणुमात्र भी नहीं बढ़ सकता। वृक्ष-वनस्पति, पशु-मनुष्य सब ही प्राण के आश्रयी हैं। उस श्वा सज्ञक प्राण का शेप या लिङ्ग यह देहधारी जीव है। वैसे तो प्राण सर्वत्र व्यापक है। परन्तु वह जिस बिन्दु या कूट (Centre, point) पर व्यक्त हो जाता है, वही उस महाप्राण का एक सकेत चिन्ह या लिङ्ग (Symbol) है। देश और काल जिस बिन्दु पर मिलते हैं, वहीं शरीरी का जन्म होता है। जन्म के साथ ही प्रत्येक प्राणी सृष्टि के नियमों में बँध जाता है। ये ही वरुण के उत्तम मध्यम और अधम पाश हैं। शुन·शेप के समान प्रत्येक मनुष्य तीन गुणों के बन्धन में बँाध

हुआ है। हमारा जीवन एक यज्ञ है पुरुषो वाव यज्ञः[1]। इस जीवन का जो मेरुदण्ड (Fulcrum of Existence) है, वही यज्ञ का यूप है। हम सुदृढ़ बन्धनो से इस यूप के साथ बँधे हुए हैं और त्रिकाल में भी नियमो का द्रोह करके उससे भाग कर नही बच सकते। कहा है—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी जठरे शयनम्।

जन्म-मरण का यह महा-बली चक्र निरन्तर घूम रहा है। हम सब इसके दुर्द्धर्ष अनुशासन के नीचे पिस रहे हैं, बार-बार जन्म लेकर काल के गाल में चले जाते हैं। क्या मनुष्य का यही लक्ष्य है कि वह असहाय रह कर बार-बार मृत्यु का चबैना बनता रहे। नही, यह तो मानवी पौरुष की कुत्सित पराजय है। मनुष्य का वीर्य तो इस बात में है कि वह अनृत से सत्य को प्राप्त करे, तम से ज्योति तक पहुँचे, मर्त्य से अमृत बने अथवा मनुष्य से देव बने। शुन शेप कहता है--

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते
तवानागसो अदितये स्याम॥

ऋ० १। २४। १५

हे वरुण! हमारे उत्तम, मध्यम और अधम बन्धनो को दूर करो। हे अदिति के पुत्र आदित्य! हम अनागस अर्थात् निष्कल्मष या पापों से रहित होकर तुम्हारे व्रतो में स्थित हो।

---

१ छा० उ० ३। १६। १॥

उससे हम 'अदिति' स्थिति या मोक्ष पद को प्राप्त करें। सात्त्विक राजस, तामस ये ही उत्तम, मध्यम और अधम बन्धन हैं, इन्हीं के सहस्रो तन्तु हमारे चारों ओर लिपटे हुए हैं। तप और पुरुषार्थ के द्वारा सतत प्रयत्न करते रहने से हम कदाचित् उनसे छूट सकते हैं।

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय त्वामवस्युराचके।

ऋ० १। २५। १९

हे वरुण ! इस पुकार को सुनो और अब प्रसन्न हो। शरणार्थी मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ।

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे ॥

ऋ० १। २५। २१

हे देव ! जीवन के लिए हमारे त्रिविध पाशों को उन्मुक्त करो।

अदिति देवो की माता है, दिति दैत्यों की जननी है। मोक्ष और अमृत अदिति का रूप है। मृत्यु दिति का क्षेत्र है। जीवन की विराट् धारा (Cosmic Life) से अखण्ड सम्बन्ध रखना अदिति की उपासना है। उस महाप्राण से अपना सम्बन्ध खो बैठना दिति के पाश में पडना है। हम देवो के साथ अपना तादात्म्य चाहते हैं, न कि दैत्यो के साथ। अदिति का मार्ग ही स्वस्ति या कल्याण करने वाला है। अदिति-पुत्र अमर देव हैं। उनका सान्निध्य-सायुज्य प्राप्त करने की सबसे बडी शर्त एक है; अर्थात्—मनसा, वाचा, कर्मणा सर्वथा अनागस या पाप-रहित होना, जिह्म पद छोड कर ऋजु (सीधे-सच्चे) जीवन की आराधना करना।

आगस् नाम पाप का है। पाप ही वृत्रासुर है—

पाप्मा वै वृत्रः[1]।

---

1 शत० ११। १। ५। ७॥

पाप ही मृत्यु, पाप ही निर्ऋति, पाप ही तम का रूप या वक्र मार्ग है। पाप के कारण हमारी आत्मा में अल्प भाव या क्षुद्रता का आक्रमण होता है। अल्पता ही दुःख है। निष्पाप हो कर हम विराट् बनते हैं। विराट् के साथ मिला हुआ जीवन ही भूमा या अमृत सुख है—

यो वै भूमा तत् सुखं। नाल्पे सुखमस्ति।
भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।

छा० ७। २३। १

यो वै भूमा तदमृतम्।

छा० ७। २४। १

भूमा ही परम निर्वृति या मोक्ष है।

हे शान्ति के आंगन में खेलने वाले अनन्त प्राणी! यदि जीवन में किसी बात की इच्छा करते हो, तो भूमा के लोक की या विश्व-लोक की इच्छा करो।

इष्णन् इषाण,
अमुं म इषाण,
सर्वं लोकं म इषाण।

यजु० ३१। २२

Wishing, wish yonder world for me,
wish that the universe be mine

— —:o — —

१७—पशु और मनुष्य

मनुष्य का मन या मस्तिष्क इतनी पूर्ण वस्तु है कि अर्वाचीन वैज्ञानिक भी उसके विषय में बहुत कम जान पाए हैं। इस समय तीन प्रमुख विद्याएँ हैं—प्राणि-तत्त्व-शास्त्र (Biology) भौतिक-विज्ञान (Physics) और मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान (Psychology)। प्राणि-विद्या के पण्डित जीवन या चैतन्य की खोज करते हैं। उनके अनुसन्धानो का प्रधान क्षेत्र जीवन-कोष या सेल (Cell) हैं, जिनमें वे चैतन्य का अनुमान करते हैं। बहुत प्रयत्न के बाद भी यह नहीं ज्ञात हो सका है कि घटक-कोष में, जिनके समुदाय से चैतन्य का जीवन प्रकट होता है, प्राण (Life) किस प्रकार उत्पन्न होता है। भौतिक-विज्ञान का सर्वस्व परमाणु (Atom) है। उसकी आन्तरिक रचना और स्वरूप के विषय में भी अब तक जो कुछ मालूम हो सका है, वह बहुत ही अपर्याप्त है। मानस-शास्त्र का सम्बन्ध मन की शक्तियों से है। मन के स्वरूप का निर्णय करना उपर्युक्त दोनो शास्त्र-विषयों से भी बहुत अधिक कठिन है। चैतन्य के स्फुरणो को ग्रहण करने में समर्थ मन के सदृश अन्य कोई भी पदार्थ इस जगत् में नहीं है। जड और चैतन्य की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का माध्यम मन है।

इस समय तक पश्चिमी शास्त्रों को इतना मालूम हुआ है कि मन के दो भाग हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्हें ही जाग्रत् (Conscious) और सुषुप्त (Sub conscious) कहते हैं। सुषुप्त या परोक्षनिहित मन यदि परिमाण में एक सहस्र राशिक माना जाय, तो प्रत्यक्ष मन उसकी तुलना में एक अंश के बराबर समझना चाहिए। हमारा ज्ञान विचार, स्मृति मेधा, इन का बहुत अधिक व्यापार जाग्रत् मानस से ही निवृत्त होता है। परन्तु उसकी विभूति परोक्ष मन (Sub conscious) की तुलना में इतनी ही है, जितनी ब्रह्माण्ड की तुलना में एक परमाणु की। हमारे समस्त संस्कार—इस जन्म के और जन्म-जन्मान्तरों के भी—इसी परोक्ष मानस के श्वेत पत्र पर छपे रहते हैं। उस पर पड़े हुए अक्स अनन्त हैं। उनमें से कुछ गिनती के छापों को ही हम प्रयत्न से स्पष्ट सिद्ध कर पाते हैं। इस निहित शक्ति के कारण ही छोटी-सी नरदेह में समाया हुआ मनुष्य भी अत्यन्त महान् और विराट् है। प्रत्यक्ष मन सान्त, मर्त्य और स्वल्प है। परोक्ष मन अनन्त, अमृत और भूमा है। उपनिषद् में कहा है—'यो वै भूमा तदमृतम्'[1]। भूमा की ओर अग्रसर होने में ही मनुष्य के लिए पूर्णता की प्राप्ति है।

मनोविज्ञान-शास्त्र के अनुसार बचपन में अधिकतर कार्य मन के परोक्ष भाग से ही निष्पन्न होते हैं, परन्तु उत्पन्न हुए बच्चे के मस्तिष्क में वह भाग जिस पर उसका ज्ञान-पूर्वक अधिकार हो, अनधिकृत या स्वतन्त्र भाग की अपेक्षा बहुत कम होता है। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता है और नवीन अनुभव प्राप्त करता है, उसके प्रत्यक्ष मानस भाग का क्षेत्र विकसित होता जाता है। वैदिक परिभाषा में प्रत्यक्ष-भाग की संज्ञा मनुष्य और परोक्ष की पशु है। मनुष्य और पशु शब्दों का धात्वर्थ ही इस बात को बताता है। मनुते इति मनुष्यः। जिसमें मनन या स्वयं चिन्तन की शक्ति है, वह मनुष्य-भाग है। पश्यतीति पशुः।

---

१ छा० उ० ७।२४।१॥

जिसमें नैसर्गिक प्रवृत्ति से देखने या अनुभव की शक्ति है; वह पशु है। मनुष्य बुद्धि-प्रधान (Intellıgence) है, और पशु चित्त-प्रधान है (Instıncs)। पुरुष में बुद्धि और चित्त दोनों का समन्वय है। मन्त्रों की भाषा में मस्तिष्क के बुद्धि-प्रधान भाग का नाम इन्द्र और चित्त-प्रधान भाग का नाम अग्नि है।

बुद्धि के द्वारा हम जितनी कुछ उन्नति करते हैं, वह चित्त की उन्नति या संस्कार के बिना बिल्कुल अपूर्ण और अधूरी है। केवल बुद्धि की उन्नति से मनुष्य का पशु-भाग शान्त और संयत नहीं बनाया जा सकता। सदाचार, सयम, पवित्रता आदि दैवी गुणों की स्थिति का अधिकतम श्रेय चित्त की उन्नति को ही है। प्राय· देखने में आता है, कि मनुष्य में दिमागी तरक्की खूब पाई जाती है। लेकिन चित्त की वृत्तियो पर काबू न पाने की वजह से कोई-कोई दबी हुई प्रवृति अकस्मात् ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ती है और बुद्धिपूर्वक बनाये हुए उन्नति के विशाल भवन को क्षणमात्र में नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। चित्त का सपूर्ण ज्ञान और उसकी सब निहित शक्तियों का सयम ही सच्ची मानवी सस्कृति है।

पश्चिमी ढग से चलाई हुई शिक्षा की रीति में भी बुद्धि या इन्द्र को ही खूब विकसित करने की ओर ध्यान दिया जाता है, चित्त वृत्तियों (Instıncts) पर सयम प्राप्त करके उन्हें अपने अधिकार में लाने की शिक्षा उस शिक्षा-प्रणाली का अभिन्न अङ्ग नहीं है।

इसके विपरीत, भारतवर्ष के ऋषियों ने मनुष्य की इन दो मनः शक्तियो के तारतम्य को अच्छी तरह जान लिया था। शुरू से ही उन की शिक्षा-प्रणाली में मस्तिष्क के पशु-भाग या चित्त को समुन्नत बनाने पर बहुत ध्यान दिया जाता था। ब्रह्मचर्य, पवित्रता, सत्यादि गुणों पर जो इतना अधिक ध्यान दिया गया था, उस का कारण और

रहस्य यही है। 'अब्रह्मचारी को विद्या मत पढ़ाओ' यह विधान क्यों बनाया गया ? मानों ज्ञान ने स्वय प्रकट हो कर आचार्य से कहा—

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥[1]

पवित्र सावधान मेधावी ब्रह्मचारी ही ज्ञान-निधि की रक्षा कर सकता है, उसे ही मुझे देना ।

यज्ञ के कर्मकाण्ड में पशुओं का उत्सर्ग भी इसी अध्यात्म अर्थ का द्योतक है ।

मनुष्य स्वय एक पशु है, जो यूप से बँधा हुआ है। मेरुदण्ड ही यह यूप है, जिस में प्राकृतिक विधानों के अनुसार [ऋत-सत्य के अनुसार] मनुष्य, रूपी पशु बँधा हुआ है । पशु भाव को देवत्व में कल्पित करके उसे स्वर्गस्थ बनाना ही याज्ञिक कर्म-काण्ड का उद्देश्य है। मेरुदण्ड-रूपी यूप का ऊर्ध्वभाग मस्तिष्क है। वैदिक परिभाषा में यही स्वर्ग है। समस्त पशु-प्रवृत्तियों को वश में कर के उन्हें स्वर्ग या मस्तिष्क के अधिकार में करना ही यज्ञ की सिद्धि है।

पुरातन योग-विद्या का उद्देश्य भी मस्तिष्क के चित्त भाग पर अधिक-से-अधिक अनुशासन प्राप्त करना था।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।[2]

मनुष्य के भीतर प्राण या जीवन-शक्ति (Life-force) सब से अधिक आश्चर्य की वस्तु है। मनुष्य क्या है ? उस के भेद स्थूल पिण्ड को भेद कर देखिए, वह प्राण और अपान के दो सयुक्त तारो का एक टुकड़ा है। जैसे विद्युत्-प्रवाह के साधनीभूत दो विभिन्न ऋण-धन तारों का एकत्र मिलन रहता है, वैसा ही तत्त्व नरदेह की इस चमत्कार-पूर्ण कारीगरी में है। वह इन दो प्राणों के सयोग से स्वय पूर्ण है। इनके तारतम्य के विच्छिन्न (Short-circuit) हो जाने से प्राण

---

१ निरु० २ । ४ में उद्धृत । २ योग द० १ । २५

उखड जाते हैं। इस प्राण-धारा का सयोग विश्वव्यापी महाप्राण से है, जो वायु, जल, अन्न आदि नाना रूपों में हमारे चारो ओर फैला हुआ है। महाप्राण के साथ सामञ्जस्य या संज्ञान (Harmony) की प्राप्ति ही देहस्थ प्राण के लिए अमरपन है, यही पुरातन योग है। इस सज्ञान का नाम ही समाधि है। इससे भिन्न विषमता या व्याधि (dis harmony) है। वेदादि शास्त्रो की सार्वभौम वैज्ञानिकता के दावे की सबसे महत्त्वपूर्ण बुनियाद यही है कि प्राण-रूपी विद्युत् के जितने सूक्ष्म नियमों का वर्णन और निरूपण इनमें मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। वस्तुत. प्राण और अपान ही प्राण के दो भेद हैं, जिस तरह एक ही विद्युत् के उपाधि-भेद से ऋण और धन नाम कल्पित कर लिये गये हैं। बिना द्विविधता के विद्युत का कोई कार्य नहीं हो सकता। समस्त प्राजापत्य कर्म मे नर-नारी, स्त्री-पुरुष, ऋण-धन आदि दो भागों की अनिवार्य स्थिति चाहिए।

बुद्धि और चित्त अथवा इन्द्र और अग्नि को सयुक्त देवता मान कर यज्ञ में द्विदैवत्य कर्म किये जाते हैं। इन्द्र कर्मेन्द्रिय (Motor) का स्वामी है। अग्नि ज्ञानेन्द्रियों (Sensory) का। मस्तिष्क के मोटर कर्म और सेन्सरी ज्ञान भाग बहुत प्रसिद्ध हैं। हमारी स्थिति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। यज्ञ में दोनों को भाग या हवि दिया जाता है। मानस-शास्त्र के विद्वानों को वैदिक मनोविज्ञान पर विशेष ध्यान देना उचित है। देव और असुर, स्वर्ग और पृथ्वी सोम और प्राण, शिव और इन्द्राग्नि आदि मानस-शास्त्र के शब्द हैं। जिन वाक्, प्राण और मन का समन्वय नर-देह मे हैं, उन्हीं तीनों के सहस्रात्मक व्यापारों का वर्णन वैदिक मन्त्रो और याज्ञिक कर्मकाण्ड में पाया जाता है।

१८–पाप्मा वै वृत्रः

शत० ११।१।५।७

वेद और ब्राह्मण साहित्य में वृत्र की अनेक कथाएँ हैं। वृत्र को एक असुर मान कर इन्द्र के साथ वृत्र के युद्धों का बड़े काव्य-मय ढंग से वर्णन किया गया है। इन्द्र की सञ्ज्ञा वृत्रहन्ता दी गई हैं, क्योंकि अनेक युद्धों के अन्त में इन्द्र ने वृत्र को पछाड़ दिया, और इन्द्र असुरों पर विजयी होकर सचमुच देवताओं के अधिपति बने। इन रोचक कथाओं में पाप की आसुरी प्रवृत्तियों को दमन करने का ही रहस्य बताया गया है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वृत्र पाप को कहते हैं।

पाप्मा वै वृत्रः। शतपथ ११।१।५।७

जहा वेद में '**वृत्रहणं पुरन्दरम्**'[1] ऐसा पद दिया है, वहा उसका अर्थ '**पाप्महनं पुरन्दरम्**' अर्थात्—पाप को मारने वाला पुरन्दर या इन्द्र करना चाहिए। यह वृत्र ज्ञान का आवरण करके मनुष्यों की बुद्धि को मोहित कर देता है, इसी से पाप के बन्धन में जकड़ा हुआ आत्मा सांसारिक पाशों से नहीं छूट पाता। यही वृत्र शबर है, क्योंकि वह 'श' अर्थात् शिवतम पदार्थ आत्म-तत्त्व को ढके रखता है। इन्द्र शबर, वृत्र तथा और भी उनके सहायक अनेक असुर दैत्यों का हनन करता है।

---

१ ऋ० ६।१६।१४॥

यह वैदिक इन्द्र अध्यात्म अर्थ में आत्मा है। इसी से शक्ति प्राप्त करने के कारण इन्द्रियों का इन्द्रियत्व चरितार्थ होता है। इन्द्रियों की संज्ञा देव है। आत्मा देवों का अधिपति है, इसीलिए इन्द्र सुरपति या देवदेव महादेव कहलाता है।

यह महादेव इन्द्र त्रिगुण सम्पर्क से देह में बद्ध हो जाता है। वेद में एक अति प्रसिद्ध मन्त्र है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्याँ आविवेश॥

अर्थात्—चार सींगों वाला, तीन पैरों वाला, दो सिर वाला, सात हाथों वाला एक वृषभ है, जो तीन प्रकार के पाशों से जकड़ा हुआ रुदन कर रहा है। वह महादेव है, जो मर्त्यजीवों में प्रविष्ट हो गया है।

यह वृषभ आत्मा है। इसके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप चार सींग हैं। भूत भविष्य वर्तमान या द्यावा पृथ्वी अन्तरिक्ष इसके तीन पैर हैं, ज्ञान और कर्म (वैदिक ब्रह्म क्षत्र) इसके दो सिर हैं, सात प्राण इसके सात हाथ हैं। इन साधनों से युक्त यह वृषभ सत्त्व-रज-तम के तीन बन्धनों से जकड़ा हुआ है। वरुण के फन्दे सबके चारों ओर पड़े हुए हैं। हम निरन्तर चाहते हैं, पर उनकी मार से छूट नहीं पाते। सच्चे प्रयत्न से जब कभी कोई इन पाशों को तोड़ना चाहता है, तभी उसको इन बन्धनों का, इन असुरों का साक्षात् अनुभव होता है। इन असुरों ने इन्द्र को अपने सच्चे आसन से च्युत कर रक्खा है, आत्मा अपने राज्य या क्षेत्र में भी स्वराज्य का अनुभव नहीं कर पाता।

१. ऋ० ४।५८।३॥

वेद की आज्ञा है—

स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज।

अथर्ववेद ११।१।२२

अर्थात्—इस देह-रूपी क्षेत्र में स्वस्थ होकर विराजो। तुम इस दृढ़ता का अनुभव करो कि तुम्हारे स्वराज्य में कोई बाधा नहीं दे सकता। हे महादेव! अपने विराट् रूप को भूल कर तुम हीनता से खर्व क्यों बन गए हो? तुम इस देह में वामन प्रतीत होते हो, वस्तुतः तुम महान् इन्द्र हो।

इस महत्ता को आत्मसात् करने के लिए जो दृढता से आगे पैर रखता है, उसकी ही वृत्र या पाप से पहली टक्कर लगती है। सच्चा जिज्ञासु साधक एक बार पैर आगे रखकर पश्चात्पद नहीं होना चाहता। वृत्र बारम्बार उसके शासन पर चढ़ाई करता है, यही अजस्र देवासुर-सग्राम है। इसकी अनेक रणभूमियाँ हैं। पर्वत और कन्दराएँ अरण्य और ग्राम, मानुष जीवन के विविध क्षेत्र हैं, जहाँ नित्यप्रति इन्द्र और वृत्र की सेनाओं का लोहा बजता है। वेद के अप्रतिरथ सूक्त में '**घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्**'[1] कह कर इसी तुमुल-सग्राम का रूपक खींचा गया है। महारथी मन अनेक शिव सकल्पो से सन्नद्ध होकर देहरूपी दिव्य रथ पर बैठ कर असुर-विजय के लिए इन्द्र का आह्वान करता है। इसी अध्यात्म युद्ध में विजयी होने का नाम अमृतत्व सप्राप्ति है। इसी से परास्त होकर रणभूमि में गिरे हुए अनेक अध्यात्म रुण्ड-मुण्ड हमारे चारों ओर दौड़ते-धूपते दिखाई पड रहे हैं, वे शरीर से पूरे हैं, पर पाप-विचार-बाणों से घायल हैं। ऐसे दुर्जेय असुरों को कपाने वाला कौन है? जिसने उत्पन्न होते ही देवों को सनाथ कर दिया, जिसके नेतृत्व में देवों ने असुरों को पछाड़ डाला, ऐसा नृम्ण या नरों का सेनानी इन्द्र है। हे मनुष्यो, उसी इन्द्र की

१ ऋ० १०।१०३।१॥

उपासना करो'। वही वृत्रहन्ता है, उस ने महाव्रत की दीक्षा ली है, वह असुरो की पुरियों का भेदन करने वाला दुर्दान्त पुरन्दर है। वह अद्वितीय है, उसका प्रतिरथ कोई नहीं हैं, न कोई उसका सपत्न है, और न उसके ऐश्वर्य में हिस्सा बटाने वाला कोई भ्रातृव्य है। उसी आत्मा की उपासना करो--

तमेवात्मानमुपास्स्व।

१ यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्। यस्यशुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्र.। ऋ २। १२। १॥

१९-यो ऽ सावसौ पुरुषः सो ऽ हमस्मि

[काएव यजु. ४०। १६ ॥]

—⁂—
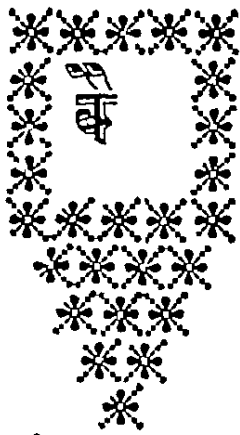
वैदिक अध्यात्मवाद के मूल में 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सूत्र पाया जाता है। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थो में अनेक प्रकार से इस सामञ्जस्य की ओर सकेत किया गया है। जिसने इस नियम की वैज्ञानिक सत्यता पर विचार किया है, उसे वेदों में इसके व्याख्यान और विस्तार को पाकर परम आनन्द प्राप्त होता है। ब्राह्मणकारों ने अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत अर्थों के समकक्षवाद (Parllelism) को अपनाते हुए अनेक स्थानों में एक ही मन्त्र के अधिदैव और अध्यात्मपरक अर्थों का निर्वचन किया है। उन निर्वचनों के मूल में उनकी यह सज्ञा ही दृष्टिगोचर होती है कि वे विराट्-जगत् या ब्रह्माण्ड में जिन नैसर्गिक नियमों को चरितार्थ देखते थे, उन्हीं के अवितथ क्रियाकलाप को इस वामनीभूत नरदेह में भी निष्पन्न देखते थे। जो वामन (Microcosm) है, वही विष्णु (Macrocosm) है—

वामनो ह विष्णुरास। श० १।२।५।५

अर्थात्—जो वामन-रूप से दृष्टिगोचर हुआ, वह यथार्थ में अपने विराट् रूप में विष्णु था। और भी—

स हि वैष्णवो यद्वामनः। श० ५।२।५।४

अर्थात्—वामन या पिण्ड वैष्णव या विराट्-धर्मा था। इस वैज्ञानिक नियम की पौराणिक उपाख्यान रूप व्याख्या वामन-विष्णु की

लीला है। जिसे वलि ने वामन समझ कर, बौना (या परिमित शक्ति) जान कर, तीन पैर पृथ्वी अर्थात् त्रैगुण्य भोग (त्रेधा विचक्रमण) के लिए आज्ञा दे दी, उसने ही विराट् रूप बना कर समस्त ब्रह्माण्ड को नाप लिया, या अपने विस्तार से परिच्छिन्न कर लिया।

आप एक परमाणु (Atom) की ओर ध्यान-पूर्वक देखिए और दयापूर्ण सहानभूति के साथ कहिए—'यह कितना वामन है।' परन्तु परमाणु का बौनापन दिखावटी है। वह वस्तुत अनन्त है। इतना अनन्त कि दो शताब्दियों से वैज्ञानिक जगत् उसके स्वरूप को जानने के लिए पच रहा है, पर आज तक प्राणापान के सयोग या मित्रावरुण की सन्तान इस क्षुद्रातिक्षुद्र परमाणु का स्वरूप अन्तिम रीति से किसी की भी समझ में ठीक ठीक नहीं आया है। 'भौतिक विज्ञान का भविष्य' (Archemides or the Future of Physics) नामक पुस्तक के मनीषी लेखक ने वहुत ही सुन्दरता से सक्षेप में इस का वर्णन दिया है कि एक वामनाकृति परमाणु ने किस प्रकार हम सब को ही अपने स्वरूप की महिमा से छका रक्खा है। हम उसे देखते हुए भी उसकी स्थिति और गति के पुष्कल रहस्य को नहीं समझे पा रहे हैं। कारण यही है कि वामन का असली रूप विराट् है। विराट् और वामन दोनो अनन्त हैं, विराट् ही वामन वना है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। न विराट् ब्रह्माण्ड को ही कोई जान पाया है, और न वामन परमाणु को ही। शक्ति की जो नियमित गति ब्रह्माण्ड की रचना में है, वही परमाणु की कुक्षि में भी मिलती है। दोनों में सामञ्जस्य है। इसलिए यजुर्वेद के जिस मन्त्र भाग को ऊपर उद्धृत किया गया है, प्रत्येक महावीर परमाणु अपने छोटे घर के तोरण द्वार पर उसे लिख कर टाँग सकता है—

योऽसौ पुरुषः सोऽहम्

---

१ अर्थात् काण्व शाखा के।

जो 'अदस्' है वही तद्वाच्य मैं हूँ।

ऐतरेय आरण्यक के ही एक भाग ऐतरेय उपनिषद्[1] में इस सूत्र को और भी अच्छी तरह समझाया है। यह मनुष्य-देह एक देवताओं की सभा है, जहाँ सब विराट् देवों के प्रतिनिधि एकत्र हुए हैं। इस साढे तीन हाथ के शरीर में सब लोकपाल अपने-अपने लोकों की कल्पना करके बैठे हुए हैं। यह दैवी सभा देवाधिदेव, महादेव, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी इन्द्र की सत्ता के बिना कार्य निर्वाह नहीं कर सकती। जहाँ सुरपति इन्द्र नहीं, वहाँ देवों का तेज सुरक्षित कैसे रह सकता है? इन्द्र की महिमा से जुष्ट या समन्वित होकर ही देव या इन्द्रियाँ तेज-सम्पन्न होती हैं। इसलिए वह इन्द्र भी विदृति द्वार से इस देह में प्रविष्ट हुआ। उसने उस ब्रह्मपुरुष को ही अपने चारो ओर व्याप्त देखा। इस यथार्थ दर्शन के कारण वह इन्द्र कहलाया। 'इदन्द्र' ही परोक्ष संकेत से 'इन्द्र' है, क्योंकि अध्यात्म-विद्या में परोक्ष निर्वचन, परोक्षज्ञान, परोक्ष-दर्शन आदि की प्रत्यक्ष के मुकाबिले में बहुत महिमा है। परोक्ष की व्यञ्जना अनन्त है, प्रत्यक्ष सान्त है।

इस प्रकार विराट् और वामन की एकता वैदिक रहस्य-ज्ञान का मूल सूत्र है। जो हिरण्यगर्भ है, वही वैश्वानर है। यह तत्त्व सदा से ऋषियों को मान्य रहा है। प्रजापति ही गर्भ में आता है, वह अनेक प्रकार से जन्म लेता है, जात वही था, जनिष्यमाण वही है, वही प्रत्येक जन के अन्दर [प्रत्यङ् जना.] है, वह विश्वतोमुख या सहस्र-शीर्षा पुरुष है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।[2]
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति विश्वतोमुखः।[3]

---

१ अ० १, खण्ड १–३। २ यजु. ३१।१९॥
३ यजु ३२।४॥

अपने विराट् रूप में जो पुरुष सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद है, वही नर देह में आकर दशाङ्गुल पर स्थित है और एकशीर्षा है। जो सहस्र है वही एकत्व परिच्छिन्न है। संख्या से अतीत में सहस्र और एक का भेद अतात्त्विक है।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चनमिषत्। स ईक्षत लोकन्नु सृजा इति[1]।

ये प्रमाण बताते हैं कि आत्मा ही चैतन्य रूप से आदि में सर्वत्र व्याप्त था। उसने ही स्व-सकल्प से लोकों का सृजन किया। सृष्टि-क्रिया में सर्वप्रथम ऋत-सत्य प्रकट हुए। इन्हीं के नामान्तर प्राण-अपान, मन-प्राण, समुद्र-अर्णव, द्यावा- पृथिवी, अहोरात्र आदि हैं। ऋत-सत्य मयी सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। ब्राह्मण और वेदों में त्रैगुण्य का अनेक पारिभाषिक शब्दों से निरूपण है। त्रैगुण्य ही एक त्रिकोण है, जिसके द्वारा इन्द्र वृत्रासुर के पजे में पडता है। आवरण करने वाला पाप ही वृत्र है। 'श' आत्मा है। उसका आवरणकर्त्ता (Veil) शम्बर है। इस असुर से इन्द्र को सतत युद्ध करना पड़ता है। इसके नव-नवति दुर्गों का भेदन करके इन्द्र स्वराट् बने[2]। इन कथानकों में अध्यात्मतत्त्व का ही प्रतिपादन मिलता है। शम्बर से जिनका सतत-सग्राम छिड़ा हुआ है' जो उसके पर्वत या दुर्गों की किसी कन्दरा में मूर्छित होकर सो जाने में ही सुख नही मान बैठे हैं, जो सदा चलते रहते हैं, अथवा अध्यात्म-युद्धों में थक कर कहीं बैठे नहीं रहे हैं, वे ही शम्बर की दुर्धर्षता का अनुमान कर सकते हैं। जागरूक जन की शम्बर से सहस्र बार टक्कर लगती है, पर अन्त में इन्द्र की विजय निश्चित है—

स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मान न विजज्ञौ, तावदेनमसुरा अभिबभूवुः।

---

१ ऐ० उ० १।१।। २ ऋ० ऋ० ४।२६।३।।

अर्थात्--जब तक इन्द्र ने आत्मज्ञान नहीं किया, तब तक इसे असुर बराबर हराते रहे। लेकिन,

स यदा विजज्ञौ, अथ हत्वासुरान् विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति। कौ० उ० ४।२०॥

अर्थात्--जब उस इन्द्र ने अपने आपको जान लिया, तब असुरो को हराकर वह सब भूतों का अधिपति बन गया, उसने स्वराज्य और श्रेष्ठता प्राप्त कर ली।

यही सक्षेप में वैदिक अध्यात्म-विद्या है।
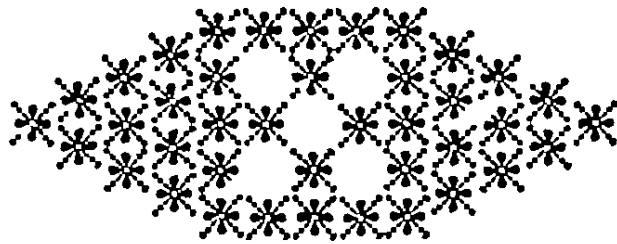
२०—अमृत-आधार

[The Immortal Substıatum of lıfe]
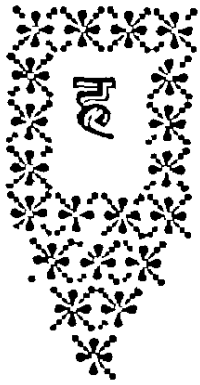
हमारे भीतर और बाहर अपरिमित दिव्य भूमा अमृतत्व का समुद्र भरा हुआ है। सहस्र परदों के पीछे से उसी का प्रकाश हो रहा है। सूर्य से भी अधिक तेजस्वी उस अमृत ब्रह्मतेज के साथ अपने सूत्र की धारा को सयुक्त करने का नाम सज्ञान है। यह आवश्यक है कि हम अपने आपको अल्पता, मृत्यु और जड़ता से सपृष्ट न समझ कर अपने मन में निरन्तर अमृतत्व की भावना करें। विराट् शक्तियों का निवास हमारे शरीर में है, उन सब का सूत्र ज्ञान-रूप चैतन्य तथा आनन्द-रूप अमृत ब्रह्म के साथ मिला हुआ है। इसी भावना को जाग्रत करने के लिए निम्न-लिखित शिव-सकल्प हैं—

अग्निर्मे वाचि श्रितः। वाग्घृदये। हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि ॥ १ ॥ वायुर्मे प्राणे श्रितः। प्राणो हृदये। हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि ॥ २ ॥ सूर्यो मे चक्षुषि श्रितः। चक्षुर्हृदये। हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि ॥ ३ ॥ चन्द्रमा मे मनसि श्रितः। मनो हृदये। हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि ॥ ४ ॥ दिशो मे श्रोत्रे श्रिताः। श्रोत्र ँ हृदये। हृदयं मयि। अहममृते। अमृतं ब्रह्मणि ॥ ५ ॥ आपो मे रेतसि श्रिताः। रेतः हृदये। हृदयं

मयि । अहममृते । अमृतं ब्रह्मणि ॥ ६ ॥ पृथिवी मे शरीरे श्रिता । शरीर ँ हृदये । हृदयं मयि । अहममृते । अमृतं ब्रह्मणि ॥ ७ ॥ ओषधिवनस्पतयो मे लोमसु श्रिताः । लोमानि हृदये । हृदयं मयि । अहममृते । अमृतं ब्रह्मणि ॥ ८ ॥ इन्द्रो मे बले श्रितः । बल ँ हृदये । हृदयं मयि । अहममृते । अमृतं ब्रह्मणि ॥ ९ ॥ पर्जन्यो मे मूर्ध्नि श्रितः । मूर्धा हृदये । हृदयं मयि । अहममृते । अमृतं ब्रह्मणि ॥ १० ॥ ईशानो मे मन्यौ श्रितः । मन्युर्हृदये । हृदयं मयि । अहममृते । अमृतं ब्रह्मणि ॥ ११ ॥ आत्मा मे आत्मनि श्रितः । आत्मा हृदये । हृदयं मयि । अहममृने । अमृतं ब्रह्मणि ॥ १२ ॥ पुनर्म आत्मा पुनरायुरागात् पुनः प्राणः पुनराकूतमागात् । वैश्वानरो रश्मिभिर्वावृधानः अन्तस्तिष्ठत्वमृतस्य गोपाः ॥ १३ ॥

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ।१० ।८

विराट् संसार में जो अग्नि-वायु आदि देव हैं, उन्हीं के प्रतिनिधि वाक् प्राण आदि हमारे शरीर में हैं। उन देवों का अधिष्ठान विज्ञानात्मक बुद्धितत्त्व (हृदये) में है। विज्ञानात्मक-तत्त्व चैतन्य (मयि) में अधिष्ठित है। चैतन्य (अहं) अमृत अर्थात्—अविनाशी अक्षर परमात्मा में अधिष्ठित है। वह अमृत अक्षर ही ब्रह्म है। हृदय, आयु, प्राण, मन, (=आकूत) सब मुझे पुनः प्राप्त हों, उनकी खोई हुई शक्ति को अमृत स्रोत के साथ मिल कर मैं प्राप्त करूँ। अमृत सूर्य की किरणों में वर्तमान मेरा वैश्वानर अन्तरात्मा अमृतत्व का रक्षक हो। मैं मृत्यु से हट कर अमरपन चाहता हूँ, तथा इन शिव सङ्कल्पों के आशिष्ठ, दृढ़ पारायण से अहरहः अमृत को प्राप्त करता हूँ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः[1] ॥

अर्थ--इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा और गरुत्मा, सुपर्ण ये सब उसी एकमेव अद्वितीय भगवान् के नाम हैं । विप्र लोग उसी एक का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं ।

वेदाहमेत पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय[2] ॥

अर्थ—तम से पार आदित्य के सदृश तेज वाले उस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ, जिसको जानकर मृत्यु के परे चले जाते हैं । मोक्षमार्ग के लिए अन्य उपाय नहीं है ।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निद ँ सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु[3] ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष उस गुहानिहित ब्रह्म को देखता है । जिसमें समस्त विश्व प्रलयकाल में एकाकार होकर ठहरता है । प्रलय में उसी में यह ब्रह्माण्ड अस्त हो जाता है और कल्प समय मे उसी में से आविर्भूत होता है । उसका ताना-बाना (ओत-प्रोत) सब प्रजाओं मे, प्राणियों में व्यापक है (फैला हुआ है) ।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश[4] ॥

अर्थ--सर्वमेध से यजन करने वाला वह पुरुष समस्त भूत लोक, दिशा विदिशाओं को व्याप्त करके, और ऋत के प्रथम जात तन्तु का आश्रय लेकर आत्माके द्वारा आत्मामें प्रवेश करके स्थित होरहा है।

---

१ ऋ० १।१६४।४६॥ २ यजु ३१।१८॥
३ यजु ३२।८॥ ४ यजु ३२।११॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः ।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्[1]॥

अर्थ--वह पुरुष द्युलोक और पृथिवी, लोक दिशा और स्वरलोक को घेर कर और ऋत के बडे तन्तु को फैलाकर, देखता है, वही हो जाता है--वस्तुत. वही ब्रह्म है ।

सुत्रामाणं पृथिवी द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवी नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये[2] ॥

अर्थ--सुत्रामा इन्द्र के लिए निर्मित, पृथिवी और द्युलोक नामक द्वन्द्व-सयुक्त, अप्रतिम, सुशर्मा नामक प्राण से सुप्रतिष्ठत अखण्डित, सुनिर्मित और अच्छे डांडों वाली (सुष्ठु इन्द्रिय समपन्न) इस शरीर रूपी दैवी नाव पर निष्पाप हम लोग स्वस्ति के लिए आरूढ हों। शरीर बन्धन का हेतु नहीं, ससार-सागर से पार हो कर मोक्ष प्राप्त करने वाली सुघटित नाव है।

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च[3]॥

अर्थ—मनुष्यो के लिए दो ही मार्ग सुने गये हैं--देवों का और पितरो का। द्युलोक और पृथ्वी के बीच के सब प्राणी इन्हीं दो मार्गों से चलते हैं।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजा ँ रीरिषो मोत वीरान्[4]॥

अर्थ--हे मृत्यु, देवयान से अतिरिक्त जो दूसरा तेरा अपना रास्ता है, उसी पर जा। आँख-कान वाले ! तुझ से कहता हूँ, देख और सुन, हमारी प्रजाओं और प्राणो को क्षीण मत कर।

---

१ यजु ३२।१२॥ २ ऋ० १०।६३।१०॥
३ यजु १६।४७॥ ४ यजु' ३५ । ७ ॥

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः[1] ॥

अर्थ—रथ में बैठा हुआ उत्तम सारथि इन्द्रिय-रूप घोड़ों को जहाँ चाहता है, ले जाता है। इन रश्मियों की महिमा को देखो, मन के पीछे रश्मियाँ जाती हैं न कि रश्मियों के पीछे मन।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽदितये स्याम[2] ॥

अर्थ—हे वरुण! हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाशों को शिथिल करो। हे आदित्य, पापरहित हो कर हम लोग तुम्हारे व्रत में अदिति (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए दीक्षित हों।

ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः।
तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः[3] ॥

अर्थ—हे वरुण! सैकड़ों और सहस्रों की सख्या में सर्वत्र फैले हुए तुम्हारे जो नियमानुवर्ती पाश हैं, उन बन्धनो से सविता, विष्णु और सुपूजनीय मरुद्गण (प्राण) हमारा छुटकारा करें।

अन्तश्चरित रोचनास्य प्राणादपानती।
व्यख्यनमहिषो दिवम्[4] ॥

अर्थ—प्राण से अपान तक फैलती हुई इस अग्नि की दीप्ति (रोचना) शरीर के अभ्यन्तर विचरण करती है। इस प्राण ने द्युलोक को देख लिया है।

दैव्या होतारा प्रथमा पुरोहित ऋतस्य पन्थामन्वेमि साधुया।
क्षेत्रस्य पतिं प्रतिवेशमीमहे विश्वान् देवाँ अमृताँ अप्रयुच्छतः[5] ॥

---

१ यजुः २६।४३॥ २ का० श्रौ० २५।१।११॥ ३ ऋ० १।२४।१५॥
४ ऋ० १०।६६।१३॥ ५ ऋ० १०।६६।१३॥

अर्थ—मैं ऋत के पन्थ पर साधुता से चल कर प्रथम पुरोहित दो दैवी होताओ (प्राणपान) के पीछे चलता हूँ। समीप में ही बसने वाले क्षेत्रपति (आत्मा) और अविरोधी अमर विश्वेदेवों का हम ध्यान करते हैं।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ अ० ६।१०८।२॥

अर्थ—मैं देवों की रक्षा के लिए उस मेधा को चाहता हूँ, जो ब्रह्म सस्पृष्ट है, जिसकी ऋषियों ने स्तुति की है।

आयुर्यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
प्राणो यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
अपानो यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
व्यानो यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
उदानो यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
समानो यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
चक्षुर्यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
वाग्यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
मनो यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
आत्मा यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
ब्रह्मा यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
ज्योतिर्यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
स्वर्यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
पृष्ठं यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा।
यज्ञो यज्ञेन कल्पता ꣳ स्वाहा। यजु॰ २२।३२॥

२१—इन्द्र

तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] की कथा है कि भरद्वाज ऋषि ने आयुपर्यन्त तप किया। तब इन्द्र ने प्रकट होकर पूछा—'हे भरद्वाज! यदि तुम्हें एक जन्म और प्राप्त हो, तो तुम क्या करोगे?' भरद्वाज ने उत्तर दिया—मैं इस जीवन की तरह ही तप करता हुआ वेदों का स्वाध्याय करूँगा।' इन्द्र ने फिर पूछा—'भरद्वाज! यदि तुम्हें तीसरा जन्म और प्राप्त हो, तब तुम क्या करोगे?' भरद्वाज ने उसी प्रकार कहा—'मैं तीसरे जन्म में भी वेदाभ्यास करता रहूँगा।' इस समय भरद्वाज के सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने इन तीनों में से एक-एक मुट्ठी भर कर कहा—'हे भरद्वाज! तुमने जो कुछ पढ़ा और जान पाया है तथा जन्मान्तरो में भी जो कुछ जान पाओगे, वह इन पर्वतों की तुलना में इस मुट्ठी के समान है। वेद तो अनन्त हैं—

अनन्ता वै वेदाः[2]

इन अनन्त वेदों के मूल में एक सूत्र ऐसा है, जिसे पकड लेने से मनुष्य एक जन्म क्या, एक क्षण में ही समस्त वेदों का ज्ञाता बन सकता है। वह है इन्द्र का अपने आप को जानना। इन्द्र नाम आत्मा का है। आत्मा का अपने आप को जान लेना, सब वेदों का सार है। यह सब से बडा धर्म है—

---

१. तै ब्रा० ३।१०।११॥ २ तै० ब्रा० ३।१०।११।४॥

इज्याचारदमाहिंसातपःस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ [याज्ञवल्क्य-स्मृति]

यह 'याज्ञवल्क्य का अनुभव वाक्य है कि सब धर्मों से बढ़ कर आत्म-दर्शन का धर्म है । इन्द्र ने भी भरद्वाज को वेदों की अनन्तता बता कर आत्मा को जानने का ही उपदेश दिया था। जिस समय वेदों को लेकर उसके नाना प्रपञ्चात्मक अर्थ करके वेदवाद रत लोग अनेक मोह जालों की सृष्टि से जनता को विभ्रान्त कर रहे थे, उस समय कृष्ण ने भी वेदों के उक्त मूल-मन्त्र की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया था। कृष्ण का सन्देश था—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः[1] ।

तथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तव ओम्[2] ॥

अर्थात्—सारे वेद मेरा ही ज्ञान कराते हैं। ब्रह्म या इन्द्र का विज्ञानसयुक्त ज्ञान कराने के अतिरिक्त वेदों का और प्रयोजन नहीं । अनेक रीतियों से वे उस अक्षर पद प्रणव-वाच्य भगवान का निरूपण करते हैं। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में इन्द्र की महिमा का वर्णन है ।

बृहद्दिव आथर्वण ऋषि ने अपना अनुभव कहा है—

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो यज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः। ऋ० १०।१२०।१

अर्थात्—वह सब भुवनों में ज्येष्ठ था, जिससे उग्र और बलीयान इन्द्र का जन्म हुआ।

इसी प्रकार गृत्समद ऋषि ने कहा है—

'सज्जनो ! इन्द्र वह है, जिसने उत्पन्न होते ही सब देवों को क्रतु-सम्पन्न कर दिया है।'

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत ।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥
ऋ० २।१२।१॥

---

१ गीता १५।१५॥   २ कठ उ० २।१५॥

इन्द्रियाँ ही शरीर में देवों की प्रतिनिधि हैं। इन्द्र की शक्ति से ही वल-सम्पन्न होकर ये इन्द्रियाँ कहलाती हैं। यह इन्द्र आत्मा है, जो देवों पर शासन करता है। उस इन्द्र के साम्राज्य में देवता निर्विघ्न बसते हैं। वह देवाधिदेव, महादेव या सुरपति है। ऐतरेय-ब्राह्मण में लिखा है—

स (इन्द्र) वै देवानामोजिष्ठो वलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः। ऐ० ७। १६।

सब देवों में इन्द्र सब से अधिक ओजस्वी, वलवान् और साहसी है, वह सब से दूर तक पार लगाने वाला है।

वस्तुत. ब्रह्माण्ड में आत्मा ही सब से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है, वही असत् वस्तुओं के मध्य में एक मात्र सत् है। इन्द्र की महिमा के रूप में ऋषियों ने आत्मा के गुणों का गान किया है। उपनिषत्काल में आत्मा का जैसा विशद वर्णन मिलता है, वेदों में वैसा ही व्यापक और तेजस्वी वर्णन इन्द्र का, आलङ्कारिक रूप में किया गया है। प्राय इन्द्र के आध्यात्मिकरूप को न जान कर लोगो ने इन्द्र के सम्बन्ध मे वडी विकृत कल्पनाओं की सृष्टि कर डाली है।

इन्द्र सोम पान करता है। वह सोम-सुत् है। यज्ञ का देवता है। यज्ञों में सोम पीता है। शरीरस्थ विधानों की पूर्ति एक यज्ञ है। कृष्ण ने कहा है—

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर। गी० ८। १।

इस देह में व्याप्त आत्मप्रक्रियाएँ ही अधियज्ञ हैं। देहस्थ समस्त कर्मों के द्वारा आत्मा की ही उपासना की जाती है। आत्मा के लिए सब कर्म होते हैं। इस यज्ञ में सोम क्या है, और उसका भाग इन्द्र को कैसे पहुंचता है?

वैदिक भाषा में ब्रह्माण्ड या मस्तिष्क स्वर्ग है। इन्द्र की इन्द्रिय-शक्ति का निवास ब्रह्माण्ड (Cerebrum) में ही रहता है।

यहीं सब इन्द्रियों के केन्द्र हैं, जहाँ से इन्द्र प्राणों का संचालन करता है। बाह्य संस्पर्शों के आदान-प्रदान की शक्तियाँ (Sensory and Motor Functions) प्राण हैं। उनका नियन्ता इन्द्र, ब्रह्माण्ड या स्वर्ग का अधिपति है। वह इन्द्र सोम पीकर अमरत्व लाभ करता है। यह सोम क्या वस्तु है ?

कोई सोम को एक बाह्य वनस्पति लता या वल्ली समझते हैं और उससे अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। किसी एक वल्ली को सोम मान कर बैठ जाना, सोम के विराट् अर्थ को पङ्गु कर देना है। सोम भौतिक रूप में एक लता भी हो, पर कहना यह है कि विशुद्ध वैदिक परिभाषा में सोम का अर्थ बहुत व्यापक है। समस्त लताएँ, वनस्पतियां और अन्न का नाम सोम है। शतपथ के अनुसार अन्न सोम है—

अन्नं वै सोमः। शत० २। ६। १८॥

इस अन्न के पाचन से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह भी सोम है। शतपथ, कौषीतकी, ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में लिखा है कि प्राण का नाम सोम है। अन्न खाने के अनन्तर, स्थूल भाग के परिवर्तन से जो सूक्ष्म विद्युत् स्वरूप वाली शक्ति देह में उत्पन्न होती है, उसकी संज्ञा प्राण है, वही सोम है। और भी शक्ति का सब से विशुद्ध और सब धातुओं के द्वारा अभिषुत उत्कृष्ट सार जो वीर्य या रेत है वह भी सोम है। इसलिए सब ब्राह्मणकारों ने लिखा है—

रेतो वै सोमः। शत० १। ६। २। ६।

ब्रह्माण्ड या मस्तिष्क को शक्ति देने के लिए इस सोम या रेत से बढ कर और दिव्य पदार्थ नहीं है। रेत जल का परिणाम रूप है। पृथिवीस्थ जल, सूर्य ताप से, द्युलोक-गामी बनता है। इसी प्रकार तप के द्वारा स्वाधिष्ठान-चक्र के क्षेत्र में स्थित जल-शक्ति, ब्रह्माण्ड मस्तिष्क या स्वर्ग में पहुँचती है। वहाँ दिवस्थ हो कर ही

सोम या रेत समस्त शरीर में प्राणों और इन्द्रियों का प्रीणन करता है। मनश्चक्र-रूपी इन्द्र को यही सोम अतिशय प्रिय है । इसी का नाम अमृत है। वीर्य-रूपी सोम की रक्षा अमरत्व देती है' उसका क्षय ही मृत्यु है। सोम की कलाओं की वृद्धि से अमृत की वृद्धि होती है । उन कलाओं के क्षय से मनश्चक्र क्षय की ओर उन्मुख होता है। चन्द्रमा के घटने-बढ़ने की पौराणिक कथा में इसी अध्यात्मतत्त्व का संकेत है। देवता अपने सोम का संवर्धन करते करते हैं। असुर उनका पान कर जाते हैं। आयु के जिस भाग में सोम की वृद्धि हो, वह शुक्ल पक्ष है। जिस भाग मे क्षयोन्मुख हो, वह कृष्ण पक्ष है । इन्हीं दो भागो से मनुष्य आयु क्या, समस्त प्रकृति बनी है । कभी वृद्धि होती है, कभी ह्रास होता है । समस्त जीव, पशु, वनस्पति, अमृत और मृत्यु के इस चक्र में पड़े हुए हैं। वनस्पतियों की सोम-वृद्धि और सोम-क्षय प्राकृतिक विधान के अनुकूल होते हैं; पर मनुष्य अनेक प्रकार से प्रकृति का विरोध करता है। वह सचेतन और संज्ञान प्राणी है। ऋषियो ने सोम को जीवन का मूल प्राण जान कर उसी की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए अनेक प्रकार से उपदेश दिया है । सोम का संवर्धन ही ब्रह्मचर्य की सिद्धि है। वस्तुतः आत्मा को जानने के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य साधन है । 'आत्मा की सत्ता को मान कर भी जो व्यभिचार करता है, वह मानो सूर्य के सामने अन्धकार के अस्तित्व को स्वीकार करता है (महात्मा गांधी) ।' तपोवनों और आश्रमो में रहने वाले ऋषियों ने आत्म-ज्ञान के लिए कहा है—

> सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
> सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।'

अर्थात्—यह आत्मा सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्य से ही मिल सकता है।

---

१ मुण्डक ३।१।५॥

जिन महर्षियों ने पूर्व कल्प में ध्यान-योग के द्वारा यह सकल्प किया कि समस्त प्राणियों का भद्र या कल्याण हो, उन्होंने भी पहले तप और दीक्षा का ही आश्रय लिया। तभी राष्ट्र, बल, ओज आदि की उत्पत्ति हुई—

'भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

अथर्व १६। ४१। १

उन आश्रमस्थ ऋषियों के अतिरिक्त शरीर में भी सप्त ऋषि हैं। ये सप्तर्षि सात शीर्षण्य प्राण हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

प्राणा वा ऋषयः। बृ० उ० २।२।३॥

सप्त प्राण ही सप्त ऋषि हैं। और आगे चल कर इन सातों के नाम भी स्पष्ट कर दिए हैं। गोतम भरद्वाज—दो कान। विश्वामित्र, जमदग्नि—दो आँख। वशिष्ठ और कश्यप—दो नासिका-रन्ध्र। अत्रि—वाक्। ये सातों ऋषि स्व. अर्थात् स्वर्ग या मस्तिष्क (Cerebrum or higher brain) के वेत्ता हैं। ये पहले तप करते हैं। उत्पन्न होते ही इन्द्रियों में दीक्षा और तप का भाव रहता है। उनकी वृत्तियाँ ऋषियो के समान पवित्र और सयत रहती हैं। तभी बल ओज आता है और राष्ट्र की उत्पत्ति होती है, वैसा शरीर राष्ट्र, जिसमें सचमुच प्रजाएँ बिना विद्रोह के, आत्मा को सम्राट् मानकर बसती हैं। बडे होने पर इन्द्रियाँ उच्छृङ्खल होने लगती हैं। तभी राष्ट्र में विद्रोह पैदा होता है। उसमें समन्वय स्थापित करने के लिए सप्तर्षियो ने स्वेच्छा से दीक्षित होकर तप का आश्रय लिया। तप से ही राष्ट्रों का जन्म होता है, भोग से राष्ट्र अस्त हो जाते हैं। चाहे शरीर-रूपी राष्ट्र हो, चाहे विराट् रूप में देशव्यापी राष्ट्र हो। तप प्रत्येक व्यक्ति में आना चाहिए, इसी का सकल्प ऊपर के मन्त्र में है।

इस प्रकार विधि-पूर्वक किये गये तप और ब्रह्मचर्य से, आयु के प्रथम आश्रम में, वीर्य का सरक्षण करना, इस मानवी जीवन की एक बहुत बड़ी विजय और सिद्धि है। वही एक मूल-मन्त्र है, जिसके सम्यक् सिद्ध करने से जीवन सफल हो सकता है। यह अवसर भी कई बार प्राप्त नहीं होता। प्रथम आश्रम में भूल होजाने से उसका प्रतिकार फिर नही हो सकता। आर्यशास्त्रों के बहुत बड़े भाग में प्रथम आश्रम के ब्रह्मचर्य को ही सफल करने के विधि-विधानों का वर्णन है। इसी बीज से समस्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति और विकास के अङ्कुर प्रस्फुटित होते हैं। कुमारसभव काव्य की यह पंक्ति कितनी तेजोमयी है, जिसमें ब्रह्मचारी का वेष धारण किये हुए शिव ने तप करती हुई पार्वती से कहा है—

ममापि पूर्वाश्रमसंचित तपः।

अर्थात्—आयु के पहले आश्रम में सचित तप मेरे पास है। हे पार्वती! तुम चाहो तो उसके प्रभाव से अपना मनोरथ पूर्ण करो।

आज कितने युवक विश्वास के साथ, इस प्रकार की घोषणा कर सकते हैं—

ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः।

यह तप इन्द्रियों के लिए स्वेच्छा से करने की वस्तु है। मन्त्र में इसी व्यापक नियम की ओर सकेत है। ऋषियों ने भद्र की कामना से स्वय ही अपने आपको तप में दीक्षित किया। बाह्य निरोध से तप.-प्रवृत्ति अत्यन्त दुष्कर है। यदि उस प्रकार का नियन्त्रण किया भी जाता है, तो भी प्रतिक्रिया बडी भयङ्कर उच्छृङ्खलता को जन्म देती है।

इस प्रकार इन्द्र के सोम-पान में भारतीय ब्रह्म चर्य शास्त्र का गूढ़ तत्त्व समाया हुआ है। शरीर की शक्ति को शरीर में ही पचा लेने के रहस्य का नाम सोम-पान है। यह शक्ति अनेक प्रकार की है। स्थूल

भौतिक सोम शुक्र है, जिसके द्युम्न या तेज से रोम-रोम चमक उठता है। रेत के भस्म होने से जो कान्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम भस्म है। उस प्रकार की भस्म का रमाना सब को आवश्यक है। शिव परम योगी हैं, उन्होंने अखण्ड ऊर्ध्वरेता बनने के लिए काम को भस्म कर दिया है। इसलिए उनके सदृश कान्तिमती भस्म से भासित तनु और किसी का नही है। प्रत्येक व्यक्ति के ब्रह्माण्ड-रूपी कैलास में शिव का वास है। मस्तिष्क की इस शिवात्मक शक्ति को यदि इस प्रकार प्रबोधित किया जाय कि उसमें काम-भावना बिलकुल तिरोहित हो जाय, तो वही फल प्राप्त होते है, जो इन्द्र के सोम-पान करने से सिद्ध होता है। एक ही महार्घ तत्त्व को द्विविध रूप में कहा गया है। शिवजी काम को भस्म करके षट् चक्रों की शक्ति को देह में ही सचित कर लेते हैं। इन्द्र या ब्रह्माण्ड स्थित महाप्राणाधिपति देवता शरीर के रेत या सोम का पान करके अमृतत्व की वृद्धि करता है। वैदिक परिभाषाओं की व्यापकता को जानने वाले विद्वानों के लिये इस प्रकार के कल्पना-भेदों का तारतम्य बहुत सुगमहै।

इसी तत्त्व का वर्णन गायत्री के सोमाहरण की कथा में है। ऐतरेय-ब्राह्मण' में इस विद्या का विस्तृत वर्णन है कि किस प्रकार गायत्री ने सुपर्ण बन कर स्वर्ग की यात्रा की और वहा से सोम का आहरण किया। गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती—जीवन के तीन भागों के नाम अनेक बार वेदों और ब्राह्मणों में दिये हैं[२]।

गयात्री—ब्रह्मचर्य कालीन आयु का वसन्त समय त्रिष्टुप्—यौवन, आयु का ग्रीष्मकाल। जगती—जरावस्था, आयु का शरत्काल। सवत्सर में जो ऋतुओं का क्रम है, वही मनुष्यायु में वृद्धि यौवन और परिहाणि का स्वाभाविक क्रम है, मनुष्य की आयु एक सत्र (Session) है, सवत्सर उसका प्रतिनिधि-रूप भाग है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय का जो क्रम ब्रह्माण्ड या विराट् काल या

---

१ ऐ०ब्रा०४।२०॥६।१४॥ २ छा०उ०३।१६॥

सवत्सर में है, वही मनुष्य कि आयु में है । प्रात काल मध्याह्नकाल और सायकाल के तीन भागों में यही चक्र प्रतिदिन हमारे सामने घूम जाता है। प्रकृति जो कुछ बडे पैमाने पर कल्प-कल्प में करती है, उसे ही हमारे समक्ष नित्य-नित्य प्रदर्शित करती है । वस्तुत इस जगत् में कोई परिमाणु ऐसा नहीं है, जिनमें सर्ग, स्थिति और प्रलय का अलक्ष्य नियम दृष्टिगोचर न होता हो । ये ही यज्ञ के तीन सवन हैं—प्रात, माध्यन्दिन और तृतीय। यज्ञ के सवनों की सज्ञाए सर्ग, स्थिति, नाश के ही नामान्तर हैं। ये ही विष्णु के तीन चरण हैं, जिन्होंने त्रिलोकी के समस्त पदार्थों को परिच्छिन्न कर लिया है । वेद के "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं"[1] मन्त्र में एक अत्यन्त व्यापक और सरलता में अनुपमेय वैज्ञानिक नियम का वर्णन है । सूर्य प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल, तीन पदों द्वारा अपना प्रकाश फैलाकर अस्त हो जाता है। यही हाल आत्मा का है । बाल्य, यौवन और जरा के सौ वर्ष पूरे करके, आत्म-रूपी सूर्य लोकान्तर में चला जाता है। मृत्यु विनाश का नाम नहीं है । वह सूर्य के समान अदर्शन मात्र है। जिसने आत्मा को जान लिया है, वह जरामर्य के चक्र और आत्मा की उससे श्रेष्ठता को भली भाँति जान लेता है । इसीलिए ऐतरेय-ब्राह्मण ने बिलकुल निर्भ्रान्त शब्दों में आत्मा के अमृतत्व का निदर्शन, सूर्य की उपमा के रूप से किया है।

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति । तं यदस्तमेतीति मन्यतेऽह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते, रात्रीमेवावस्ताव् कुरुतेऽहः परस्ताव्। अथ यदेनं प्रातरुदेति इति मन्यते रात्रेरेव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात्कुरुते रात्री परस्ताव्। स वा एष न कदाचन निम्रोचति, न ह वै कदाचन निम्रोचति,

---

१. ऋ १।२२।१७॥

एतस्य ह सायुज्य सरूपतां सलोकतामश्नुते एवं वेद, य एवं वेद ।
(ऐ ब्रा ३।४४)

अर्थात्—आयुर्यज्ञ की समाप्ति तृतीय सवन या जरा में होती है। उसके बाद आयु का अग्निष्टोम या सूर्य छिप जाता है। पर यह अस्त होना एक उपाधि मात्र है। मत समझो कि सूर्य वस्तुतः कभी अस्त या उदय की उपाधियों से ग्रसित होता है। सूर्य सतत प्रकाश रूप है। यह सूर्य ही आत्मा है। आत्मा एक शरीर से अस्त होकर दूसरे शरीर में उदय होती है। जो यहाँ तृतीय सवन है। उसी की सन्धि पर प्रात.सवन रक्खा हुआ है। सन्ध्याकाल का ही उत्तराधिकारी लोकान्तर में प्रात सवन है। इसी तरह दूसरे लोक में जो मृत्यु या आयु-रूपी दिवस का अवसान है, वही हमारे मर्त्यलोक में आत्म-सूर्य का उदय या अन्त है। मत समझो कि आत्मा का कभी निम्रोचन या अस्त हो सकता है। इस प्रकार यज्ञ के बहाने से जो मनुष्य जन्म और मृत्यु के रहस्य को जान लेता है, वही आत्म-सूर्य के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। जीवन और मृत्यु के नाटक का अभिनय सूर्य नित्य हमारे सामने करता है। उसी का ज्ञान अग्निष्टोम यज्ञ के द्वारा हमें होता है। अतीन्द्रिय रहस्यों को विज्ञान की रीति से प्रयोग-गम्य करने का कौशल ही यज्ञों में उद्दिष्ट है।

इस तरह आयु के तीन भागों का जो स्वाभाविक क्रम है, उसके साथ-साथ चलने से जीवन-यज्ञ आनन्द के साथ समाप्त होता है। यज्ञ का बीच में खण्डित होना आसुरी है। तीनो भागों का आवश्यक महत्त्व है। किसी भी भाग में अनियम करने से यजमान मृत्यु के उन्मुख होता है। जीवन का पूर्व भाग, जिसकी सज्ञा गायत्री है, सारी शक्ति का मूल है। उसकी सफलता ब्रह्मचर्य की सिद्धि है। इस कला का नाम गायत्री का सोमाहरण है। पूर्व आश्रम का सगीत गायत्री छन्द है। वह छन्द सुपर्ण या गरुत्मा बनकर स्वर्ग से

सोम-रूप अमृत लाता है। वीर्य या रेत के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पवित्र अश की सज्ञा सोम है। उसका निवास मस्तिष्क-चक्र में रहता है। वही मस्तिष्क के कोषों को वापी रस (Ventricular fluid) बन कर स्वास्थ्य देता है। पहले आश्रम में धारण किये हुए ब्रह्मचर्य-व्रत से ही सोम का लाना सम्भव है। इसीलिए कथा में कहा गया है कि त्रिष्टुप् और जगती सोम लाने के लिए उड़े, पर स्वर्ग तक न जाकर बीच से ही लौट आये। तात्पर्य यह है कि यौवन और बुढ़ापे में भी ब्रह्मचर्य की आवश्यकता के प्रति सचेत होने से लाभ होता है; पर जो लाभ प्रथम आश्रम में ही जागरूक होने से मिल सकता है, फिर बाद में सभव नहीं।

आर्य-शास्त्रों में अनेक प्रकार से एक ही तत्त्व का वर्णन और उपदेश किया जाता है। शिव का मदन-दहन, गायत्री का सोमाहरण और इन्द्र का सोम-पान, ये तीनों बातें मूल में एक ही रहस्य का सकेत करती हैं।

वेदों में इन्द्र के सोम पीने के सम्बन्ध में अनेक सूक्त हैं। इन्द्र सोम पीने के कारण अन्य देवों पर साम्राज्य करता है। विना इन्द्र के अन्य देव मूर्च्छित या अनाथ रहते हैं। पाणिनि के अनुसार भी इन्द्र-रूप आत्मा की शक्ति से शक्तिमान् होने के कारण ही इन्द्रियों का नाम चरितार्थ होता है।

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्, इन्द्रदृष्टम्, इन्द्रसृष्टम्, इन्द्रजुष्टम्, इन्द्रदत्तमिति वा।
अ० ५।२।६३

इन्द्र शतक्रतु है। प्रसिद्ध हैं कि सौ यज्ञ करने से इन्द्र-पद की प्राप्ति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य की देह में आत्मा श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है। वह शतवीर्य या शतक्रतु है। अन्य सब इन्द्रियों का तेज आत्म-तेज से घट कर रहता है। इसलिए ईशोपनिषद् में कहा है—

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।

देव या इन्द्रियाँ जन्म से लेकर अपनी यात्रा आरम्भ कर देती हैं। वे अपने-अपने रास्तों में दौड़ने लगती हैं; परन्तु जिस समय

आत्मा को ज्ञान होता है, उस समय पहले भागी हुई इन्द्रियाँ बहुत पीछे छूट जाती हैं। कोई व्यक्ति कितना ही कामी क्यों न रहा हो, उसने अपनी काम-वृत्ति को चाहें जितनी छूट दी हो, पर जिस समय भी आत्मा का अनुभव हो जाता है, काम-वासना बहुत पीछे रह जाती है। तुलसीदासजी के जीवन में यही हुआ। पहले से भागते हुए देव अनेजत् निष्कम्प इन्द्र का मुकाबिला नहीं कर सकते। यही इन्द्र की शतवीर्यता है। आत्मा अनन्त वीर्य है। उसकी अपेक्षा देह में सब इन्द्रियाँ हीन हैं। कोई अन्यवृत्ति निन्यानवे से आगे नहीं जा सकती, इसलिए पुराणों का वर्णन है कि स्वर्ग की अभिलाषा से अनेक राजा लोग निन्यानवे यज्ञ ही कर पाये; कोई भी शतक्रतु न बन सका। कालिदास ने ठीक ही कहा है—

तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः ।'

(रघुवंश)

शतक्रतु तो केवल इन्द्र ही है। यह सृष्टि का अलङ्घ्य विधान है कि इन्द्र के अतिरिक्त अन्य कोई देव शतवीर्य नहीं बन सकता। अध्यात्म-पक्ष में इन्द्र आत्मा है। वह सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। अधिभूत अर्थ में इन्द्र राजा है। राज्य-सचालन के अधिकार से अधिकृत अन्य कोई अधिकारी शतक्रतु नहीं हो सकता। इसकी कल्पना ही असत्य है। यदि वह ऐसा यत्न करता है, तो राष्ट्र के भीतर अन्य राष्ट्र (State within the state) की सृष्टि हो पाती है। इसी प्रकार प्रत्येक सङ्गठन में इन्द्र की शतक्रतुता अक्षुण्ण रहनी चाहिए। इस देह में देवों कि सभा है। शरीर को देव-ससद् या देव-ग्राम भी कहते हैं। उसका अधिपति इन्द्र है।

ऐतरेय-अरण्यक में विस्तृत रूप में देवता और उनके शरीरस्थ प्रतिनिधियों का वर्णन किया है।

'अग्नि वाक् होकर मुख में आई; वायु प्राण रूप से नासिका मे ठहरी, आदित्य चक्षु होकर नेत्रों में स्थित हुआ; दिशाएँ श्रोत होकर कानों में प्रविष्ट हुईं; ओषधि—वनस्पतियाँ लोम-रूप से त्वचा में प्रविष्ट हुई, चन्द्रमा मनोरूप से हृदय में स्थित हुआ, मृत्यु अपान के रूप में, नाभि-देश में स्थित हुई, जल रेत वन कर गुह्य प्रदेश में ठहरा।'[1]

वाह्य प्रकृति के अनुकूल और अनुसार ही पार्थिव शरीर के सगठित होने का यह वहुत यथार्थ वर्णन है।

देवो का ही नामान्तर लोकपाल है, और जिन इन्द्रिय-द्वारो में उन्होंने वास किया, उनका नाम लोक है। इन लोको और लोकपालो को रचने के वाद उस आत्म-सम्राट् के मन में तीन प्रश्न उत्पन्न हुए। उसने सोचा—मेरे विना यह सव ठाट चलेगा कैसे ?" उसने सोचा—सव तो अपने-अपने मार्गों से चले गये, मैं किधर से जाऊँ ? उसने सोचा—यह सव देव स्वतन्त्र होकर अपना-अपना कामकर ले गये, तो मैं कौन ठहरा, मेरी क्या महिमा रही ? 'अथ कोऽहमिति ?'—यह सोचकर वह अन्य किसी देव के मार्ग से न आकर स्वय विदृति नामक एक नया द्वार कल्पित करके इस नर-देह में प्रविष्ट हुआ। उसने आकर चारों ओर देखा और कहा—यहाँ अपने से दूसरा किसे कहें ? उसने ब्रह्म को ही चारों ओर फैला हुआ देखा। इस प्रकार जिसने देखा, वह इन्द्र कहलाया।[2]

इस कथा द्वारा शरीर में प्राणों के विविध रूपों का वर्णन करके इन्द्र या आत्मा के अखण्ड आधिपत्य या ऐश्वर्य का वर्णन है। विविध देव या लोकपाल एक प्राण के ही अनेक रूप हैं। उस प्राण से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ इन्द्र है। प्राण की सहायता से इन्द्र सव काम करता है, या यों कहे कि इन्द्र के ही आश्रय से प्राण में प्राण शक्ति है।

---

१ ऐ० आ० २।४।२॥ ऐ० उ० १।२॥ २. ऐ० आ० २।४।३॥ ऐ० उ० १।३॥

प्राण ही विश्व-व्यापिनी शक्ति है। प्रत्येक पदार्थ के मूल में शक्ति के सूक्ष्म रूप की वैदिक सञ्ज्ञा प्राण है। यह महाविद्युत् चराचर का अन्तिम रूप है। अर्वाचीन विज्ञान प्राण के ही नाना रूपों का अनुसन्धान करने में व्यस्त है। वैज्ञानिक कहते हैं कि भिन्न पदार्थ के मूल में विद्युत् (Electricity) है। शब्द, ताप, प्रकाश आदि उसी के रूप हैं। यह विद्युत् प्राण है। विद्युत् मूल में द्वैत सम्पन्न है। वैज्ञानिक शब्दो में, उसे ऋण और धन कहा जाता है। इसी द्वन्द्व के अनेक वैदिक सकेत हैं—

धन Positive	ऋण Negative
पुरुष	स्त्री
ब्रह्म	क्षत्र
ज्ञान	कर्म
ऋक्	यजु
अन्नाद	अन्न
अमृत	मर्त्य
सत्	असत्
अहः	रात्रि
प्राण	अपान
अग्नि	सोम
मित्र	वरुण
गायत्री	त्रिष्टुप्
रथन्तर	बृहत्
अनिरुक्त	निरुक्त

इस प्रकार ब्रह्माण्ड व्यापी द्वैत से विशिष्ट प्राण सब पार्थिव या भौतिक पदार्थों का आदि मूल है। परन्तु उस महाप्राण को ही सर्वोपरि

चैतन्य मान बैठना भूल है। असुर या भौतिक प्रकृति की उपासना करने वाले (Materialists) लोग प्राण को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति मान लेते हैं। आज वैज्ञानिक ससार में यही हो रहा है। प्राण या विद्युत् से प्रशस्यतर सत्ता की उपासना विज्ञान को इष्ट नहीं है। वैदिक अध्यात्म-शास्त्र में प्राण के भी प्राण चैतन्य का वर्णन है। वेदों और ब्राह्मणों में सर्वत्र उस आत्म-तत्त्व की महिमा का वखान है, जिसके प्रताप से प्राण और अपान का कार्य सम्भव होता है—

यत्प्राणेन प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते[1] ॥

केवल जड़ प्रकृति की मूल शक्ति या विद्युत् की ही पूजा करने वालो को यह उपदेश है कि सृष्टि और प्रकृति का मूल कारण, जिसकी तुम खोज में हो, यह प्राण नहीं है, वल्कि इस प्राण को भी प्राणित करने वाला ब्रह्म है।

इसी दुर्द्धर्ष सिद्धान्त की घोषणा ऋग्वेद के 'स जनास इन्द्रः' नामक सूक्त में [मण्डल २, सूक्त १२,] गृत्समद ऋषि ने की है। यह सूक्त वहुत ही महिमा शाली है। कथा यों है—असुर सदा इन्द्र की खोज में रहते थे। एक वार इन्द्र गृत्समद के यज्ञ में गए। यह समाचार सुनकर असुरों ने गृत्समद का घर घेर लिया। इन्द्र यह हाल जानकर गृत्समद का वेष वनाकर वहां से निकल गए। असुरों ने गृत्समद समझ कर उन्हें जाने दिया। थोड़ी देर में असली गृत्समद भी निकले। तव असुरो ने उन्हे पकड़ा। गृत्समद के वहुत कहने पर भी असुर यही समझे कि यही इन्द्र है, जो कपट-वेष वनाकर निकल जाना चाहता है। इस पर गृत्समद ने एक सूक्त गाया, जिसमें कहा—'सज्जनो, मैं इन्द्र नहीं हूँ, इन्द्र तो वह है, जिसने अमुक

---

१ केनो० १।८।

प्रकार के पराक्रम किये हैं; जिसने द्यावा-पृथिवी को स्तम्भित कर दिया है, जिसने उत्पन्न होते ही सब देवों को क्रतु या शक्ति सम्पन्न बना दिया; जिसने अहि-वृत्र का सहार करके सप्त सिन्धुओं के मार्ग को उन्मुक्त किया, जिसके बिना मनुष्यों की विजय नहीं होती; जिसने सोम का पान किया, जो अच्युत है, जिसने शम्बर आदि असुरों का नाश किया है। सज्जनो, इन्द्र तो वह है, मैं इन्द्र नहीं हूं।'

स जनास इन्द्रः

इस सूक्त का गृत्समद ऋषि कौन है ? ऐतरेय आरण्यक ने इस समस्त सूक्त को समझने की कुञ्जी दी है। उसके अनुसार गृत्समद प्राण का नाम है। गृत्समद शब्द में गृत्स नाम प्राण का है और मद नाम अपान का है। गृत्समद प्राणापान का सयुक्त रूप महाप्राण है[1]। वह स्वय कहता है—मैं आत्मा या इन्द्र नहीं हूँ। यद्यपि मेरी शक्ति भी अवर्णनीय है, पर इन्द्र मुझ से भी बड़ा है इन्द्र के पराक्रम विश्व-विदित हैं, उनके प्रताप को जानने वाला पुरुष गृत्समद को इन्द्र अर्थात् प्राण को आत्मा समझने की भूल नहीं कर सकता।

ऊपर के सूक्त में इन्द्र[2] को एक स्थान पर सप्तरश्मि, तुविष्मान्, अर्थात् बलवान् वृषभ कहा गया है। शरीर के सात प्राण ही सप्तरश्मिया हैं। ये ही सप्त अर्चिया, सप्त होम, सप्त लोक, सप्त समिधाएँ और सप्तर्षि हैं, (मुण्डक उपनिषद् २।१।८ तथा यजु ३४।५५)। ये ही आत्मा की सात परिधियाँ हैं। शरीर के भीतर रक्खी हुई अग्नि की ये सात चितियाँ हैं। द्युलोक (Cerebrum), अन्तरिक्ष (Medula oblongata middle region) और पृथ्वी (Spinal region) में बँट कर ये सात अर्चियाँ या समिधाएँ सप्तत्रिक इक्कीस प्रकार की हो जाती हैं। वेदों में त्रि-सप्त सख्या का अनेक स्थानों में वर्णन है। उसका

१ द्र० ऐ० आ० २।२।१॥ २ ऋ० २।१२॥

अभिप्राय इन्हीं सप्त प्राणों की पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में फैली हुई तीन प्रकार की शक्तियों से है। ये तीन लोक शरीरस्थ केन्द्रीय नाड़ी-जाल (Central nervous system) के ही विभाग हैं। सुषुम्णा के ३३ पर्व पृथिवी लोक है, ऊर्ध्व मस्तिष्क द्युलोक या स्वर्ग है, इनके बीच का भाग (Sipnal Bulb) ही अन्तरिक्ष है। षट्चक्रों की सब चेतनाएँ और सञ्ज्ञाएँ अन्तरिक्ष में होकर ही मस्तिष्क में पहुँचती हैं, जहां से सातों प्राणो का नियमन होता है। नाभि से नीचे जङ्घाए पैर आदि पाताल लोक हैं, वहाँ अन्धकार रहता है। ज्ञान का अलौकिक स्थान तो स्वर्ग या मष्तिष्क है, वहीं मननात्मक देव रहते हैं। इन्द्र सातों प्राणो का नियामक है। आत्मज्ञान के लिए सप्त इन्द्रिय-द्वारों का सयम परम आवश्यक है।

महाभारत की कथा के अनुसार काशिराज की पुत्री सत्या के विवाह की शर्त सात बैलों का नाथना था। कृष्ण ने उन्हें एकारस्सी में बांध कर सत्या को पाया था।

इस कथा में इन्द्र के सप्तरश्मि वृषभत्व का ही सकेत है। इन्द्र में ही यह सामर्थ्य है कि अपनी-अपनी तरफ रस्सी तुड़ा कर भागने वाले इन सातों प्राणों को एक रश्मि में नाथ कर उन्हें अपने शासन में चलाता है। ऋग्वेद के इन्द्र-मरुत् सवाद सूक्त में सात मरुत् ही सप्त प्राण हैं, जो इन्द्र की सहायता करने का वचन देते हैं। उनके बल को अनुकूल पाकर इन्द्र वृत्रादि असुरो को वश में करता है।

वेदों, ब्राह्मणों और पुराणों में इन्द्र के देवासुर-सग्राम का बहुत वर्णन है। निरुक्ताचार्य यास्क ने आध्यात्मिक तत्त्वो को देवासुर-सग्राम के वर्णन द्वारा समझाने की शैली को इतिहास कहा है। वस्तुत आधुनिक इतिहास के रूढ़ि अर्थ में देवासुर-संग्राम कोई घटना कभी नहीं हुई। यह तो शाश्वत-सग्राम है, जो सहस्रों वार हो चुका है और प्रतिक्षण

निरन्तर होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की दैवी और आसुरी वृत्तियों में सघर्ष चला करता है। प्राण ही देव और प्राण ही असुर हैं। प्राण की ही भली बुरी वृत्तियां दैवी और आसुरी कहलाती हैं—

देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वया पुत्रा आसन्

ताण्ड्य ब्रा० १७।१।२

प्राण प्रजापति है—

प्राणः प्रजापतिः। शतपथ ६ । ३ । १ । ६

उसी के रूप देवासुर हैं। जब दैवी वृत्तियों की विजय होती है, तब इन्द्र स्वर्ग का अधिपति रहता है, अर्थात् स्वर्ग या मस्तिष्क या बुद्धि से सयुक्त उसका निवास रहता है। असुरों की विजय से इन्द्र स्वर्गच्युत हो जाता है अर्थात् आत्म-विवेक का लोप हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण (११।१।६) मे आलङ्कारिक ढग से कहा है कि प्रजापति ने अपने शरीर में ही गर्भ धारण करके देवों और असुरों को बनाया। देवों को बनाने से उजाला और असुरों से अन्धेरा हो गया। इसीलिए अन्धकार में असुरों का बल बढ़ता है। दिन देवों का है, रात्रि असुरों की है।

देवता पुण्यमय थे; इसलिए वे विजयी हुए। असुर पाप से बिन्धे थे, इसलिए वे हार गये, अर्थात् देवासुर सग्राम के बहाने से पुण्य पाप वृत्तियों के सघर्ष और जय-पराजय का वर्णन सर्वत्र किया जाता है। इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण की निम्न लिखित पक्तियाँ सोने के अक्षरो में लिखने योग्य हैं—

नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्।

ततो ह्येवैतान् प्रजापतिः पाप्मना अविध्यत् ते तत एव पराभवन् इति। तस्मादेतत् ऋषिणाऽभ्यनूक्तम्।

न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न ते ऽ मित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः नाद्य शत्रुं ननु पुरा युयुत्सः ॥

शत० ११।१।६।१७

अर्थात्--इतिहास और आख्यानों में जो देवासुर-संग्राम की कथाएँ लोग कहते हैं, वे ठीक नहीं हैं। असुरों को बनाने से अँधेरा हो गया, तब प्रजापति ने जाना—अरे, मैंने पाप बना दिया, जिससे मेरे लिए तम हो गया। बस, असुरों को उसने पाप से बींध दिया, जिससे वे पराभूत हो गये। इसी बात को ध्यान में रखकर ऋषि ने यह बात कही है कि इन्द्र, तुम एक भी दिन नहीं लड़े, न तुम्हारा कोई शत्रु है। तुम्हारे युद्धों का बखान सब माया है। न आज तुम्हारा कोई शत्रु है, और न पहले तुम से लडने वाला अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी कोई था। (Illusion is what they say concerning thy battles) (Eggeling)

वृत्र, शम्बर, नमुचि, बल, अहि, रौहिण, दनु, गोत्र आदि असुरों के साथ इन्द्र के संग्रामों का वर्णन करने वाले जो इतिहास और आख्यान हैं, वे माया हैं।

माया = Finitising principle, that which envelops Indra, the veiling principle

इस देश-काल या ऋत-सत्य के ताने-बाने ने इन्द्र को आवृत कर लिया है। 'श' अर्थात् आत्मा को आवृत करने वाला शम्बर या

वृत्रासुर है। इन्द्र को जब तक अपना ज्ञान नहीं है, तभी तक वह वृत्र आदि असुरों से हारता रहता है। जिस क्षण इन्द्र को अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव का ज्ञान हो जाता है, वह असुरों पर विजय पा लेता है। माया का आवरण स्वय छिन्न-भिन्न हो जाता है। कौषीतकी उपनिषद् अर्थात् ऋग्वेदीय शांखायन आरण्यक के उपनिषद् भाग (४।२०) में इसी बात को बड़े निश्चित शब्दों में कहा है--

"स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानम् न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञावथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यम् पर्येति"।

अर्थात्--उस इन्द्र ने जब तक अपने को नहीं जाना, तब तक असुर उससे हारते रहे। जब इन्द्र ने आत्म-दर्शन कर लिया, तब उसने असुरों को जीत लिया, और वह सब भूतो से श्रेष्ठ बन कर स्वराज्य की प्राप्ति कर सब का अधिपति बना। यह नहीं कि पहले युगों में कभी ऐसा हो गया हो। अध्यात्म-शास्त्र के नियम तो त्रिकाल में सत्य रहते हैं। इसीलिए ऋषि ने आगे कह दिया--

एवं विद्वान् सर्वेषां भूतानाम् श्रैष्ठ्यं स्वराज्यमाधिपत्यम् पर्येति य एवं वेद, य एवं वेद।

अर्थात्--अध्यात्म-विद्या के इन्द्र-विजयाख्य रहस्य को जानने के बाद जो आत्म-विज्ञानी होता है, वह भी सब भूतों में श्रेष्ठ, ज्येष्ठ और स्वराज्य-सम्पन्न बनता है। आधुनिक विज्ञान में जो स्थान देशकाल (Space-Time) का है, वही आर्ष-विज्ञान में ऋत-सत्य का है। "सृष्टि प्रक्रिया में सर्व-प्रथम ऋत-सत्य का विकास होता है।

ऋत-सत्य

ऋत-सत्य के आवरण से सब भूत आवृत या परिच्छिन्न हैं। इन्होंने ही अनन्त को सान्त किया है। ये ही मापने वाले या माया हैं। इन्हीं के नामान्तर शान्ति और क्षोभ (Static and Dynamic principles) हैं। ऋत के कारण देश में वस्तुओं की स्थिति होती है। सत्य के दवाव से काल में उनका अग्रगामी विपरिणाम या विकास होता है। इन दोनों से ऊपर अनेजत् निष्कम्प इन्द्र या आत्मा है। समस्त च्युत पदार्थों के मध्य में आत्मा केवल अच्युत है। गृत्समद ऋषि ने इन्द्र को अच्युत-च्युत कहा है।[1] अन्यत्र भी इन्द्र को "च्यवनमच्युतानाम्"[2] की उपाधि दी है, अर्थात् जो देश और काल सब को चलायमान कर देते हैं, किसी को स्थिर नहीं रहने देते, उनको भी चलायमान करने वाला, उनसे अतीत सत्ता वाला इन्द्र है। बुद्ध भगवान् ने इन्हीं तत्त्वों को धर्म और कर्म के नाम से पुकारा था। धम्म सब को धारण करने वाला (Static) है, कम्म सब को आगे बढ़ाने वाला (Dynamic) है। विश्व का प्रत्येक परमाणु ऋत-सत्य से ओत-प्रोत है।

ब्राह्मणों और उपनिषदों में इस माया को नाम-रूप भी कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है--

ततो ह इदं तर्हि अव्याकृतमासीत् तत् नाम रूपाभ्यामेव व्याक्रियते असौ नाम इदं रूपम्। बृ १।४।७॥

अर्थात् नाम और रूप के द्वारा अव्याकृत (Undifferentiated) ब्रह्म व्यक्त हुआ।

शतपथ-ब्राह्मण में अन्यत्र (११।२।३) भी ब्रह्म की व्याकृति

---

१ ऋ २।१२।६॥ २ ऋ ८।६६।४॥

का नाम-रूप द्वारा विशेष वर्णन है—

अथ ब्रह्मैव परार्द्धमगच्छत । तत्परार्द्धं गत्वा ऐक्षत कथंन्विमाँल्लोकान् प्रत्यवेयमिति । तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत् रूपेण चैव नाम्ना च ।"[1]

अर्थात्—ब्रह्म का त्रिपाद् अमृत या परार्ध भाग तीन लोकों से अतीत है । उसने सोचा—किस प्रकार मैं इन लोकों में प्रविष्ट होऊँ ? तब वह नाम और रूप से इन लोकों में प्रविष्ट हुआ । उपनिषदों के आधार पर लिखते हुए शङ्कराचार्य ने सहस्रों बार इस नाम रूपात्मक माया के आवरण का वर्णन किया है । आत्म-दर्शन से ही इस बन्धन, परिच्छिन्नता या माया की ग्रन्थि शिथिल होती है । वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् सब के मतानुसार स्वात्मानुभव ही सब से बड़ी विजय या सिद्धि है । यही महती सम्प्राप्ति हैं । इसी सूत्र में अनेक वर्णनों, उपाख्यानों, इतिहासों और दर्शनों का सार है । यद्यपि वेद अनन्त हैं, पर इन्द्र ने भरद्वाज को जो आत्म-ज्ञान का मूल-मन्त्र बताया था, उसे जान लेने से सब वेदों के सारभूत अक्षर पद ओ३म् का ज्ञान हो जाता है, तब इस अनन्तता से मनुष्य व्यथित नहीं होता । मूल सूत्र पर अधिकार होने से उसको विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है ।

इस विश्व में उस महान् अज्ञात यक्ष को, जो अपने विराट् और अणु रूप में प्रकट हुआ है, जान लेना अग्नि, वायु आदि देवों के वस की बात नहीं है । उसे तो इन्द्र ही जान सकता है । अग्नि ने अहङ्कार से कहा—'मैं जातवेदा हूँ, चाहे जिसको जला सकता हूँ ।' पर उस यक्ष के दिये हुए एक तिनके को न जला सका । वायु ने कहा—'मैं मातरिश्वा हूँ, चाहे जिसको उड़ा सकता हूँ ।' यक्ष ने उसके आगे एक तिनका रख दिया । वायु ने बहुतेरा जोर लगाया, पर तिनके

१ शत ११।२।३।३॥

को न हिला सका। यह देवो की शक्ति की सीमा है। इन्द्र ही उमा नाम्नी सात्विकी बुद्धि की सहायता से उस यक्ष को जान पाया,[1] अथवा उस यक्ष ने इन्द्र के प्रति ही अपने रूप को विवृत किया। वह इन्द्र एक है, अपनी माया से अनेक रूपों वाला होकर दिखाई पड़ता है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते[2]।

वह इन्द्र सुत्रामा है। उस सुत्रामन् इन्द्र की प्रसन्नता के लिए जो साधनाएँ अथवा यज्ञ किये जाते हैं, वे सौत्रामणि यज्ञ हैं। इन्द्रियों की प्राण-शक्ति की सज्ञा सुरा है। सुरा और सोम दोनों एक शक्ति के दो रूप हैं। शक्ति के ब्रह्म (Static) रूप का नाम सोम है। उसी के क्षत्र (Dynamic) रूप का नाम सुरा है। सोम सुरा दोनों का अस्तित्व आवश्यक है। कुशासन पर समाधिस्थ ऋषि में प्राण की सोम-शक्ति है। सिंहासनस्थ, प्रजा-पालन में तत्पर राजा में प्राण की सुरा-शक्ति है। इन्द्र के साम्राज्य मे ज्ञान और कर्म दोनों हैं। ब्रह्म और क्षत्र के समन्वय से शरीर या राष्ट्र के कार्य का सचालन होता है। Legislative और Executive शक्तियों के सामञ्जस्य से ही राष्ट्रो में आनन्द की अभिवृद्धि होती है। इसलिए इन्द्र के साथ सोम और सुरा, दोनो का सम्बन्ध है। सोम क्रतुओं में वह सोम का पान करता है। ऐतेरेय ब्राह्मण के अनुसार वाक्, प्राण, चक्षु, मन, श्रोत्र, आत्मा—ये सोम पीने के ग्रह या पात्र हैं। इन्हीं[3] के परिभाषिक नाम ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और आश्विन ग्रह हैं। इन्ही में भर-भर कर सब लोग अपने-अपने सोम को पी रहे हैं, या बखेर रहे हैं। इन्द्र सोम को पीकर अमृतत्व लाभ करता है। सौत्रामणि यज्ञ, जो सुत्रामन् सज्ञक इन्द्र की महिमा के लिए किया जाता है, सुरा अर्थात क्षत्र-शक्ति के सञ्चय का रहस्य बताता है। राष्ट्रो की अभिवृद्धि के लिए जिस प्रकार ब्राह्मधर्म की आवश्यकता है, उसी

१. केनो० खण्ड ३,४॥ २ ऋ० ६।४७।१८॥ ३ तुलना करो शत० १४।६।२।१६॥

प्रकार क्षात्र धर्म भी आवश्यक है। मनु ने कहा है—क्षत्र-विरहित ब्रह्म अथवा ब्रह्म-विरहित क्षत्र अभिवृद्धि को प्राप्त नहीं होता। जिस स्थिति में ब्रह्म और क्षत्र समन्वित होकर विचरते हैं, उसी पुण्य प्रशस्य लोक की कामना आर्य ऋषियों ने की है। 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' इस लोकप्रचलित वाक्य में ऐतरेय ब्राह्मण में निर्दिष्ट सौत्रामणि यज्ञ और सुरा के उत्कृष्ट मर्म की ओर ही सकेत है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। राष्ट्र अथवा शरीर में क्षत्र-शक्ति की उपासना सौत्रमणि यागानुकूल कर्म है, क्योंकि उसके द्वारा इन्द्र रक्षयित्री शक्ति से सम्पन्न किया जाता है। एक ही अन्न से सोम और सुरा दोनों उत्पन्न होते हैं। सोम न हो, तो मनुष्य विवेक-शून्य होगा। सुरा नहीं, तो निर्वीर्य होगा। समुदीर्ण असु-शक्ति का वैदिक नाम सुरा है। विना उत्कृष्ट प्राणों के मनुष्य कर्मण्य नहीं बनता। बिना कर्म के वह अपना या पराया कल्याण नहीं कर सकता। ब्राह्मण ग्रन्थों ने बड़े विस्तार के साथ वैदिक विज्ञान के सार्वभौम और सार्वकालिक रहस्यों का वर्णन किया है। जहाँ तक सृष्टि का विस्तार है, वहीं तक ब्रह्म-क्षत्र या सुरा-सोम का उपर्युक्त समन्वय चरितार्थ होता है। आज भी वह ध्रुव सत्य बना हुआ है। शब्दों के भेद से मूल वस्तु का भेद नहीं होता। आज पश्चिमी विज्ञान में क्षत्र-ब्रह्म के नामान्तर लैजिस्लेचर और एग्जीक्यूटिव हो गये हैं, पर दोनों का मूल भाव एक ही है।

ऊपर इन्द्र के आध्यात्मिक स्वरूप का कुछ निर्वचन किया गया है। ऋग्वेद के प्रायः एक चौथाई सूक्तों में इन्द्र की महिमा का वर्णन है। मन्त्र-गान करने वाले ऋषियों को इससे बढ़कर और आनन्द नहीं होता कि, वे अनेक प्रकार से इन्द्र की श्रेष्ठता, ज्येष्ठता का वर्णन करते रहें। उनकी वीणा से एक ही स्वर निकलता है—

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।[1]

---

१ बृ० उ० ४।५।६॥

रस-विशेष से अनभिज्ञ जन इस राग से ऊब जाते हैं; परन्तु 'तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं'[1] का प्रत्यक्ष करने वालों की दृष्टि में इन्द्र की महिमा को गाने वाले संगीत से मधुरतर संगीत विश्व में नहीं है। धन्य इन्द्र! जहाँ तक तुम गए वहाँ तक कोई देव नहीं गया; तुमने निकटतम जा कर पहले ब्रह्म को पहचाना—

इन्द्रोऽतितरामिव अन्यान् देवान्, स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श, सहि एनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति[2]।

१ ऋ० १०।१२०।१॥ २. केनो० ४।३॥

२२—अरुन्धती

—◌⁕◌⁕◌—
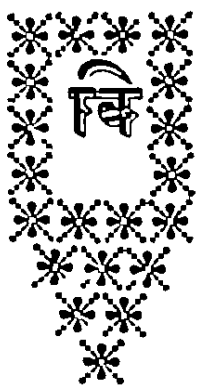
विवाह-संस्कार के समय वधू को अरुन्धती, सुमङ्गली, सम्राज्ञी, प्रजावती, स्योना, शम्भू आदि अनेक विशेषणों से पुरस्कृत किया जाता है। समाज के सब प्रतिनिधि, आचार्य, ऋत्विक्, पुरोहित दोनों परिवारों के कुटुम्बीजन, समस्त उपस्थित सदस्य उस नव अवगुण्ठिता कुमारी पर अपने शुभ आशीर्वचनों की वर्षा करने में स्पर्धा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग और मर्त्यलोक में जितनी शान्ति और सुख-समृद्धि है, सब एक साथ ही यज्ञ-मण्डप में नव वधू के रूप में मूर्तिमती हो उठी हो। सब आचार-धर्मों की प्रतिष्ठा, समाज और जाति की दृढ स्थिति और सब आश्रमों की सुन्दर अवस्थिति का पुञ्जीभूत हेतु नव वधू के रूप में जिस समय लोगों के सम्मुख उपस्थित होता है, सब के अन्तस्तल से आशीर्वाद की मधु-धाराएँ यह कहती हुई बहने लगती हैं कि हे भगवन्! आज जिन शिव आयोजनों का सूत्रपात हुआ है, वे जन्मपर्यन्त असम्बाध रूप से चलते रहें, जिससे वर-वधू की यह मङ्गलमयी मूर्ति तीनों ऋणों का अपाकरण करके, स्वहित और परहित के साधन में सफल हो।'

इन सब सदाशाओं का एक-मात्र रहस्य-सूत्र 'अरुन्धती' शब्द है। ध्रुव-दर्शन से पूर्व वधू को अरुन्धती का दर्शन कराया जाता है।

पौराणिक उपाख्यानों में अरुन्धती महर्षि वसिष्ठ की धर्मपत्नी हैं, जिनके लिए महाकवि भवभूति ने—

'त्रिलोकीमंगल्यामुपममिव वन्दे भगवतीम्'

कह कर प्रणामाञ्जलि अर्पित की है। ध्रुव-दर्शन का प्रयोजन यह बताने का है कि इस भङ्गुर और परिवर्तन-शील जगत् में नाश को प्राप्त हो जाने वाली भौतिक वस्तुओं के बीच में आत्म-तत्त्व ध्रुव है, जिसकी अशेष अभिव्यक्ति और साधना वधू के प्रेम आदर्श में है। अध्रुव वस्तुओं के द्वारा जिसने उस ध्रुव वस्तु को नहीं पा लिया, उसने जन्म लेकर और सामाजिक संस्कारों के प्रपञ्चों में पड कर भी क्या किया ! इस ध्रुव सौभाग्य की प्राप्ति का मूल-मन्त्र अरुन्धती है। यदि विवाह के अनन्तर जीवन के सब व्यवहारों में स्त्री अरुन्धती बन कर रहे, तो विवाह यज्ञ से जिन पुण्य-फलों के फलने की आशा की गई थी उनकी अबाध संपत्ति हो।

अरुन्धती = Unresisting

अरुन्धती के शब्दार्थ में ही स्त्री के लिए उपदेश का सागर भरा हुआ है। इसी में उसका जीवन विधान (Code) है। अरुन्धती वह है जो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी तरह अपने पति की इच्छा, ज्ञान और क्रिया को रूँधे नहीं। जिस पत्नी ने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषों में अपने पति के प्रति अरुन्धती [unresisting] रहने का मर्म जान लिया है, उसने ही अध्रुव कार्यसंयोग में ध्रुव आनन्द की संप्राप्ति की है। पति की इच्छा, ज्ञान, क्रिया या त्रिविध शक्ति का विकास इन्हीं कोषों में है। यथा—

अन्नमय प्राणमय	= क्रिया
मनोमय	= इच्छा
विज्ञानमय	= ज्ञान

जो पत्नी सर्वत्र अरुन्धती अर्थात् अनुकूल है वह ही पति के साथ पूर्ण तन्मयता प्राप्त कर सकती है।

विवाह क्या है ?

भारतीय आदर्शों के अनुसार विवाह ऐसी तन्मयता की स्थिति या सम्मिलन (Fusion) हैं, जिसमें पति और पत्नी दो से एक हो जाते हैं। यह तन्मयता जितनी ही सर्वाङ्गीण हो, वैवाहिक आदर्श की उतनी ही ऊँची विजय है। प्रत्येक पति-पत्नी को यह अपने लिए स्वय निर्धारित करने की बात है कि वे किस कोटि की तन्मयता प्राप्त करेंगे। ससार में किसी तीसरे व्यक्ति के लिए इस में जगह है ही नहीं। प्रेम के आदर्श में सब को यथाशक्ति ऊँची उड़ान भरने का मार्ग खुला हैं, जो जहाँ तक भी पहुँच सके।

यदि हम भारतीय विवाह-सस्कार को ध्यान से देखें तो उसमें कितनी ही तरह से पति-पत्नी के इस एकीभाव सम्मिलन की ओर सकेत किया गया है। पति और पत्नी जिस पुरोडाश को यज्ञ में डालते हैं वह एक कपाल में सस्कृत होता है। यज्ञ की लाक्षणिक परिभाषाओं में कपालों का बड़ा महत्त्व है। पति-पत्नी के एक कपाल सस्कृत पुरोडाश में एकत्वभाव की चरम व्यञ्जना है। यदि जीवन के सब कर्मों को यज्ञ कहा जाय, तो गृहस्थ के सब प्रयत्न उसमें पुरोडाश रूप हैं। यह सदा स्मरण रहे कि उस पुरोडाश की सामग्री और यज्ञ के पुण्यफलों में प्रत्यक्षत पति चाहे कितना ही अग्रणी क्यों न प्रतीत हो, वस्तुतः पति-पत्नी दोनों का ही उनमें समाश भाग है।

एकत्व के अन्य निदर्शन द्यावा पृथिवी उत्तरारणि-अधरारणि, शमीगर्भस्थ अश्वत्थ आदि हैं। द्यावा पृथिवी माता-पिता के रूप हैं। द्युलोक पिता और पृथिवी माता है, जिनके समनस् होने से ही वृष्टि आदि प्रजोत्पादक कर्म होते हैं। यज्ञ में दोनों अरणियों के सयोग से ही

यज्ञाग्नि निर्मथित होती है । पति उत्तरारणि और पत्नी अधरारणि है । विवाह-यज्ञ में पति के साथ सयोग को प्राप्त होने से स्त्री की पत्नी सज्ञा होती है । पतिपत्नी-रूप अरणियो के परस्पर निर्मन्थन से सन्तान रूप अग्नि उत्पन्न होती है । छान्दोग्य उपनिषद् के शब्दो के भाव के अनुसार विधाता की ब्रह्माण्ड-व्यापी प्रयोग-शाला (Laboratory) में पुरुष-रूप धन विद्युत् और योषा-रूप ऋण विद्युत् के सम्मिलन से जो अग्नि स्फुलिंग प्रदीप्त होता है, वही सतान है, जिससे सृष्टि-यज्ञ विस्तृत होता है । शतपथ ब्राह्मण में इसी एकता का और भी सुन्दर वर्णन है । यथा—

योषा वै वेदिर्वृषा अग्निः । श० १ । २ । ५ । १५ ॥

अर्थात्—जैसे विधिपूर्वक चयन को प्राप्त हुई वेदि सुसमिद्ध अग्नि से मिल कर ही फलवती होती है, वैसे ही विवाह-यज्ञ द्वारा वृषशक्तिसम्पन्न पुरुष के साथ तन्मयता को प्राप्त हुई योषित् ही सम्यक् प्रजावती होती है ।

इस प्रकार विवाह के द्वारा पत्नी पति से संयुक्त होकर उसके साथ अधिक-से-अधिक तन्मयता की स्थिति प्राप्त करने का आदर्श अपने सामने रखती है; वह अपने शरीर का उसके शरीर के साथ संपर्क होने से किसी दिव्य सुख का अनुभव करती है । परन्तु शारीरिक सयोग विवाहोदित सम्मिलन का केवल परिमित अश है । हिन्दू-आदर्शों ने विवाह-सम्बन्ध को बहुत ही अभ्यर्हित और पुनीत माना है । पत्नी पति के प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष के साथ भी अभिन्न हो जाती है । इस एकात्मभाव का नाम प्रेम है । यदि उसकी जड़ विज्ञानमय कोष तक पहुँच चुकी है, तो पत्नी अपने आपको सर्वांश में पति की सत्ता मे विलीन करके अपनी पृथक् सत्ता के आभास को खो देती है । उसे इसी भावना में आनन्द प्राप्त होता है ।

जब प्रेम की बढ़िया भरपूर हो, तब यदि पत्नी को अपनी पृथक् सत्ता का अनुभव करने पर बाध्य किया जाय, तो उसको मर्मस्पर्शी दुःख होता है। यदि ध्यान के साथ देखा जाय, तो पुरुष के साथ तन्मय होने के लिए स्त्री अपनी पृथक् सम्पत्ति, बुद्धि, विचार सब की तिलाञ्जलि दे देती है। मनु भगवान् ने इसी के लिए कहा है—

यो भर्ता सा स्मृतांगना।

कुमारसम्भव में ऋत्विक् ने अग्नि को साक्षी करके पार्वती को उपदेश दिया है—

वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से
वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या
कार्या त्वया मुक्तविचारायेति[1]॥

अर्थात्—हे वत्से! आज अग्नि को साक्षी करके तुमने विवाह-व्रत की दीक्षा ली है। देखो आयुपर्यन्त मुक्त विचार होकर शिव के साथ धर्माचरण करती रहना।

इस उपदेश में 'मुक्तविचार' पद विशेष अर्थ की प्रतीति कराता है। स्त्री को पति के साथ जीवन-धर्म का पालन करने में अपने विचार को छोड़ देना है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह सब काम बुद्धि-हत के समान जड़ता के साथ करे, बल्कि इसका प्रयोजन यह है कि वह पति के साथ मानसिक-क्षेत्र में ऐसी समनस हो कि उसमें विपरीत और विरोधी विचाराङ्कुर कभी न फूटने पावें, और प्रेममय जीवन की सरसता सदा अक्षुण्ण बनी रहे। मुक्त-विचारता की वह स्थिति ऐसा अभिलषित दास्य भाव है, जिसे स्त्री ने बड़े चाव से स्वय

१ कुमार सम्भव ७। ८३॥

ओढ़ लिया है। या, शब्दों के शिकञ्जे में कस कर उसे दास्यभाव भी क्यो कहा जाय, वह तो एक ऐसी विलक्षण स्थिति है, जिसकी व्याख्या कालिदास ने "गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" (रघुवंश ८। ६७) आदि अमर शब्दों में की है। यह स्थिति तभी प्राप्त हो सकती है, जब स्त्री वाङ्मनः काय से पति के साथ अविरोधिनी या अरुन्धती बन जाती है। इसी हालत में मुक्तविचार वाली होकर भी वह परम स्वतन्त्रता और आनन्द का उपभोग करती है। स्त्री के इस प्रकार आत्म-समर्पण करने का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें यह विचारना चाहिए कि—

पति कौन है?

यदि हम यह जान पावें कि स्त्री के मन में उस पुरुष के प्रति क्या भाव होते हैं, जिसे वह अपना हृदय-सम्राट् मान कर पतित्व के उच्च आसन पर अधिष्ठित करती है, तो हमें इस रहस्य का भी कुछ ज्ञान हो सकेगा कि क्यो उसकी एकान्त आराधना मे वह एक दम अपनी सारी सुध-बुध खो देती है। यह भी याद रखने की बात है कि विवाहोत्तर काल मे पति के दास्य-या सख्य-भाव प्राप्त करने की बात केवल भारतवर्ष के विचारकों की कल्पना ही नहीं है, वरन् यह बात इतनी स्वभाविक है कि पश्चिम के देशों में भी विवाह के प्रारम्भिक वर्षों के दाम्पत्य जीवन में पत्नी की ऐसी ही आत्मसमर्पणता पाई जाती है। वस्तुत पति का जो आदर्श स्त्री के मन में बैठा होता है, उसका फल स्त्री के लिए सिवा ऐसी स्थिति के और कुछ हो ही नही सकता। तटस्थ व्यक्ति के विचार में स्त्रियों के अधिकार की दृष्टि से यह स्थिति कितनी ही विषाद-मिश्रित क्यो न मालूम हो, स्वय पत्नी के वैवाहिक मधु-जीवन का सार इसी मे है कि वह पति के साथ

मान सकती है ? सङ्गीनों के बल पर प्रजा के शरीर का स्वामित्व आधुनिक राष्ट्रपतियों को प्राप्त है, प्रजा के मनोमय कोष के साथ उनका तादात्म्य नहीं है। इसीलिए उन्हें अरुन्धती प्रजा का पति नही कहा जा सकता। भारतीय लोग भी गणपति की उपासना करते थे। उनके गणपति के आदर्श वसिष्ठ-सदृश ऋषि या रघु-सदृश नृपति थे। वेदों में कहा है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे,
प्रियाणां त्वा प्रियपति हवामहे,
निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे,[1]

अर्थात्—समाज में जितने वर्ण, आश्रम, पूग, श्रेणी, सङ्घ, ग्राम नगर, जनपद आदि ज्ञात अथवा अज्ञात गण (Groups) हैं, उनका गणपति (Leader, Head) अवश्य होना चाहिए। जिसका गणपति-रूप में आह्वान करते हैं, वही हमारे समस्त प्रियो (Interests) का भी प्रियपति या प्रतिनिधि है। ऐसे व्यक्ति के हाथ में ही प्रजा अपनी अपनी सारी निधियो को निश्चिन्त भाव से सौंप देती है। गण की समस्त निधि यदि मुक्त-विचार होकर प्रजा ने गणपति को नहीं सौंपी, तो दोनों का सम्बन्ध मानो अभी द्वादशवर्णी सुवर्ण के समान निखरा हुआ नहीं है, उसमें कहीं ओखापन बाकी है; गणपति और प्रजा के उस सङ्गठन में कहीं पर त्रुटि है। यह सत्य है कि इस प्रकार के आदर्श गणपति की सम्प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। पर इस कठिनता के होते हुए भी वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्रो में आदर्श उपयुक्त पुरुष को ढूँढ लेने (Choice of Right Person) का प्रश्न वैसा ही महत्त्वपूर्ण बना रहता है।

आज शिक्षा के क्षेत्र में भी इस भारतीय आदर्श के ओझल हो जाने से हम अजीव मखौल देख रहे हैं। हमारे यहाँ सब से बडी बात

---

१ यजु २३।१६॥

सच्चे गुरु को पा लेना है। ऐसे आचार्य को पाकर शिष्य अपना सर्वस्व—तन, मन, धन उसके चरणों में रख देता है। वह स्वय उसी का हो रहता है। यदि आचार्य को माँ कहा जाय, तो शिष्य मानो उसके गर्भ में वास कर लेता है, जिससे उसके पाँचों कोषों का सवर्धन और पोषण होता है। विपुल धन को स्वाहा करके ईंट-गारे के परकोटे खींच देने से देश मे तिल-भर भी शिक्षा की उन्नति नहीं होती। इनमें जगह भरने के लिए वैश्य-वृत्ति प्रधान लोगों को अध्यापक नौकर रख कर हम शिक्षा की ओर से निश्चिन्त हो जाते हैं। इनमें नैतिक अध्यात्मिक शिक्षा का प्रबन्ध कितना है, इसे सब जानते हैं। पश्चिमी ढङ्ग पर चलाई हुई एतद्देशीय शिक्षा सस्थाओ में वहाँ के दोष तो सब आ गये हैं, गुण कुछ भी नहीं। इमारतो की सज-धज बहुत है, शिष्य की आत्मा को कुचलने के लिए नियन्त्रण और ऊपरी टीम-टाम की मात्रा भी काफी है, पर वास्तविक जीवन नहीं है। आचार्य और अन्तेवासी और उनके बीच में विद्या की सन्धि ये तीन बातें किसी शिक्षा-सस्था के प्रधान अङ्ग हैं। पति-पत्नी का सम्बन्ध जैसे यज्ञस्थ दो अरणियों के समान कहा गया है; वैसे ही आचार्य और अन्तेवासी दो अरणियाँ हैं, जिनके परस्पर सघर्ष से विद्या की अग्नि प्रज्वलित होती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसी को यों कहा है—

आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवासी उत्तररूपम्।
विद्या संधिः। प्रवचनम् संधानम्[1]।

यही अधिविद्य या शिक्षा-शास्त्र का मूल सिद्धान्त है। इसमे आचार्य का वही स्थान है, जो विवाह में पति का। एक बार आचार्य के सदृश पुरुप को पाकर शिष्य उसको ईश्वर ही मान लेता है। उस की सेवा में उसे आनन्द आता है। सेवा भाव का कोई कर्म ऐसा नही, जिसके करने में शिष्य को उत्साह और प्रसन्नता न हो। इस प्रकार के

---

१ तैत्ति० उ० शिक्षा० ३।२।३॥

तादात्मय के साथ यदि आधुनिक छात्रों के अधिकारों की तुलना करें, तो ठीक वही भेद मालूम होता है, जो प्राचीन विवाह-आदर्श की तन्मयता (Fusion) और वर्तमान सभ्यता में पत्नी के पृथक् अधिकारों का है। विद्या-क्षेत्र के सदृश ही विवाह-क्षेत्र में भी उपयुक्त पुरुष को पा लेने के बाद उसकी आराधना विहित है। जो स्त्री जिस पुरुष को अपना पति मानती है, जगत् की सब विभूतियों की आदर्श-निधि स्त्री के लिए वही है। यदि वह ऐसा न समझे, तो अपना हृदय अशेष रूप से उसे अर्पण कर ही नहीं सकती। उसकी दृष्टि में वह पुरुष सिंह ही जगत् के सब नररत्नों में शिरोमणि है। तुलसीदासजी ने इसी उच्च मनोभाव की इस चौपाई में व्याख्या की है—

'उत्तम के अस बस मन माही। सपनेहु आन पुरुष जग नाही'।

प्रेम के प्रथम धडाके में जो गर्मी रहती है, वह अग्नि आयु-पर्यन्त वैसी ही प्रज्वलित रहे, तब तो प्रेम सच्चा है। यदि प्रेम उत्तरोत्तर बढता नहीं, तो प्रेम में कायिक सयोग ही प्रधान है। वस्तुत प्रेम के स्वर्गीय पथ मे एक बार पैर बढा कर कभी पीछे लौटना उचित नहीं; इसके लिए प्रेम का पथ अनन्त होना चाहिए। केवल भोग-समिद्ध प्रेम अन्नमय कोष तक ही रहता है। उसका क्षय अवश्यम्भावी है; इसलिए शरीर के साथ ही स्त्री-पुरुष के मन, बुद्धि और आत्मा का भी सम्मिलन आवश्यक है, शरीर के मास की लालसा आसुरी है। दैवी यज्ञ का विधान तो सस्कृत मनोभावो से सम्पन्न होता है। 'मास के भूखे राक्षस होते हैं, भाव के भूखे देव।' भावों की अनन्त परितुष्टि और विकास के लिए मन, बुद्धि और आत्मा के क्षेत्र ही उपयुक्त हैं। वहीं पहुँच कर हम शरीर का अन्त करने वाले काल के दारुण दु.खदायी पाशों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। वड़े सोच विचार के

बाद ही ऋषियों ने स्त्री पुरुष के विवाह-बन्धन को ऐसे यज्ञ के रूप में कल्पित किया था, जिसका कभी विध्वंस न हो। उस आदर्श की गहरी छाप समस्त हिन्दू जाति पर आज तक लगी हुई है। भोग की समिधाओं को संयम के जल से प्रोक्षित किया गया है। यह हो सकता है कि पश्चिमी शब्दाडम्बरों के दबाव में पड कर बहुत दिनों की बँधी हुई इन पुनीत व्यवस्थाओं को हम तोड डालें और मन की निरंकुश वृत्तियों को चाहे जिस प्रकार स्वच्छंद छूट का अवसर दें, पर सच बात तो यह है कि पश्चिमी जगत् स्वयं ही अपनी विवाह-सबन्धी उच्छृङ्खलता से बहुत परेशान है और उसका मार्ग व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी सिद्ध नहीं हो रहा है। भारतवर्ष को फिर से अपने आदर्शों को तोल लेने की जरूरत है। तिरस्कार का फल आत्म-विनाश ही हो सकता है। सभी क्षेत्रों में एतद्देशीय आदर्श सर्वोत्कर्षशाली हैं, विशेषत. स्त्रियों के पातिव्रत-धर्म सम्बन्धी आदर्शों की उपमा जगत् में है ही नहीं। सीता, दमयन्ती, सावित्री, गान्धारी सब के इतिहास में 'अरुन्धती' यह विशेषण सुवर्ण-अक्षरों में लिखा हुआ है।

२३—विचारों का मधुमय उत्स
शब्द और अर्थ

— —:o.— —
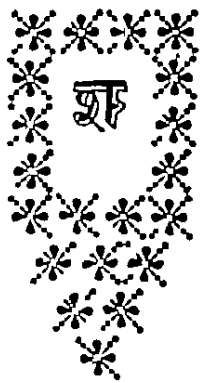
शब्द है और शब्द के पीछे उसका सत्य-स्वरूप अर्थ है। केवल शब्द रटो, अल्प फल है। शब्द के साथ उसके अर्थ से टक्कर लेने का ऋजु प्रयत्न करो, महती सम्प्राप्ति है। उससे रस का अनुभव होगा। रस का स्वाद लेना योग है। रस योगियों का भाग है। योगी अर्थ के साथ जूझते हैं, पण्डित शब्द के साथ। इसीलिए पण्डितों के भाग में तक्र ही आया। योगी रस पी रहे हैं, पण्डित छाछ पी कर रह गए। पण्डित के सामने शब्द आया—'सविता'। शब्द की बाहिरी परिधि में घूम-घाम कर पण्डित ने सन्तोष माना। सविता कहाँ है ? क्या है ? इस अर्थ को जिसने बूझा वह योग की ओर बढ़ा। मन को अर्थ के साथ बार-बार टकराओ। बिजली की परस्पर चटचटाती हुई ऋण-धन जिह्वाओं की तरह शब्द को अर्थ की सन्निधि में लाकर स्फुरित करो। वह ही अमृत स्वाद रस और आनन्द है।

शब्द ईंधन की तरह भारी है। अर्थ अग्नि के समान, फूल की तरह हलका। शब्द पृथिवी की ओर गिरता है, अर्थ आकाश की ओर उठकर तैरता है। शब्द भूमि का सरीसृप है, अर्थ आकाश का व्योमचारी गरुड है। शब्द परिमित, अर्थ अपरिमित है। शब्द मूर्त्त, अर्थ अमूर्त्त है। शब्द निरुक्त, अर्थ अनिरुक्त है। शब्द कहने में आ गया, अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है। शब्द जब अर्थ की ज्योति से चमकता है तब उसके सान्निध्य में अर्थ की धाराएँ

छूटती हैं। जन्म भर शब्द की सेवा की तो 'डुकृञ् करणे' ही हाथ रहा। एक मुहूर्त के लिये भी अर्थ का दर्शन मिल गया तो जन्म-जन्म के कल्मष भक से उड गए।

शब्द के द्वार पर सुनसान है। अर्थ के आङ्गन मे अमृतभावों की कल्लोल है, आनन्द का अमृतमय गद्‌गद भाव है। शब्द के नेत्र बाहर की ओर हैं, अर्थ की दृष्टि अन्दर की ओर होती है। अर्थ क पास पहुँचकर आनन्द के आँसुओं की झडी लग जाती है। शब्द दशग्रीव रावण की तरह परिमित सिर वाला है; अर्थ सहस्रशीर्षा शेष की तरह अनन्त विस्तारी है। शब्द होकर भी नहीं रहता, अर्थ विश्व भुवन का अभिभव करता है। शब्द दो-चार पग रेङ्गता है, अर्थ सुपर्ण की तरह दूरङ्गम है। शब्द कुम्भकर्ण की तरह महानिद्रालु है, अर्थ लक्ष्मण की तरह जागरणशील है। अर्थ का प्रजागर जिनके हाथ लग गया, वे जगत् की रात में जागते रहते हैं।

शब्द जडाऊ आभरणो की भाँति है, अर्थ सहज लावण्य की तरह मोहक।शब्द हैं के पास बैठे हुए भी अपना पता बोलकर देना पड़ता है, अर्थ का सौरभ सौ कोस से अपनी ओर खींचता है। शब्द परकोटे खींचकर भेदभाव उत्पन्न करता है, अर्थ के उदार प्राङ्गण में स्थान की कमी नही। शब्द शरीर है, अर्थ प्राण है। शब्द रूपी शरीर की श्री अर्थ रूपी प्राण में है। अर्थ से विरहित शब्द 'अश्रीलतनू' होना है। अश्रील ही अश्लील है। शब्द के पचडे मे विषय हमें अपनी ओर खींचते हैं, हम अश्लील रहते हैं। अर्थ का जीवन मे जितना साक्षात् अवतार होता है उतना ही हम श्रीयुक्त होकर सुसस्कृत और सम्भ्रान्त बनते हैं। अर्थ शब्द का सिर है; केवल शब्द कबन्ध है। शिर में श्री निवास करती है। शरीर में सौन्दर्य की प्रतीक शिर है। शब्द में आकर्षण का हेतु अर्थ है। अपने कर्म और सस्कारों से मनुष्य ने विश्व के पुष्कल सौन्दर्य में जो भाग पाया है, उस श्री का निवास

शिर में रहता है। शब्द को भी कल्याण-साधन का जो वरदान मिलता है, उसका स्रोत अर्थ में है। शब्द कमल की भाँति उमँगते हुए सौन्दर्य से सुहावना लगता है, पर अर्थ उस पद्मनाल के भीतर का सञ्चारी जीवन रस है। पद्मनाल के शतदलों पर जो श्री विहार करती है, उस इन्दिरा का निवास तो वस्तुतः वहाँ है जहाँ इन्दीवार के गुह्य सप्तस्रोतों में रस का अजस्र प्रवाह है। शब्द का माधुर्य अनन्त होता है, पर काव्य के रस का मधुमय सोता तो उस अर्थ में है जिसके साथ शब्द हमारा परिचय करा देता है।

अर्थ कहाँ है ? क्या अर्थ के साथ जीवन में हमारा कभी परिचय हो सका है ? अर्थ अव्यक्त भाव है सही, प्र है नितान्त सत्य। वह कहाँ नहीं है ? क्या अर्थ की सम्प्राप्ति के लिए हमारा हृदय आदोलित होता है ? ब्रह्मचर्य, तप, इन शब्दों का मूर्तरूप क्या सहस्र बार भी हमने नहीं देखा है ? पर इन शब्दो के पीछे जो अर्थ है उसके साथ हमारा कितनी बार सम्पर्क हुआ है ? ब्रह्मचर्य किस स्थिति का नाम है ? क्या हमें एक बार भी उस आनन्द से गद्गद होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ? अर्थ में जो मिठास, जो अमृत, जैसा स्वाद है, उस को चक्खे विना शब्द के चाटने से भी क्या होगा ? शब्दो से भरा हुआ यह महान् आकाश है। सत्य, धर्म, तप, ब्रह्मचर्य दीक्षा, ज्ञान, कर्म, प्राण, कैसे कैसे अनमोल शब्द इस गम्भीर प्रदेश में भरे हैं। विचित्र महिमा है कि हम जब चाहते हैं इन शब्दों का आवाहन कर लेते हैं। शब्दो के पीछे उनकी व्यञ्जना से समवेत अर्थ का महान् अर्णव है। शब्द और अर्थ में सरस्वती के दो फव्वारे हैं। शब्द वाक् है और अर्थ मन है। शब्द और अर्थ के बीच में जब प्राण का मेरुदण्ड जुडता है, तभी जीवन मे कर्म के द्वारा अर्थ की तहे खुलने लगती हैं। शब्द के अध्ययन का फल अर्थ का ज्ञान है। अध्ययन का व्रत लेकर भी जिसने अर्थ को नहीं जाना या जानने का सचाई से

कभी प्रयत्न नहीं किया, या प्रयत्न करता हुआ भी जो अपने सकल्प को विजयी नहीं बना सका उस अप्रीति के लिए शोक है । अर्थ का साक्षात्कार ही ज्ञान का सार और साहित्य का अन्तिम फल है । हे मनीषियो ! मन से अर्थ को पूछो और अमृत ज्ञानरूपी रस के दिव्य स्वाद को प्राप्त करो ।

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः

वैदिक अध्यात्म भाषा उनके लिए जो जागरूक हैं । जिनके मानस में विचारो का आलोक है, वे सब भाषा के मार्मिक स्वरों को सुनते हैं और सुनकर उनका अर्थ ग्रहण करते हैं । यह भाषा आन्तरिक साधना की सरस्वती है । इसके धरातल तक उठने के लिए श्रद्धा चाहिए और मन की अनुकूल प्रेरणा होनी चाहिए । भाषा तो शब्द प्रधान है । शब्दों के पीछे जो अर्थ है वही मूल्यवान होता है । अर्थ विश्वाकाश में अनन्त, अनादि रूप से भरा हुआ है, वह नित्य है, सर्वगत है, देश और काल का बन्धन उसमें नही है । अर्थ की भाषा मौन और तूष्णीं है वह मानवमात्र के लिए है । उसमें शब्दो का भेद नहीं है, अतएव अर्थ सब के लिए उसी प्रकार सहज है, जिस प्रकार विश्व के समस्त अध्यात्म-भाव भेद के बिना मानवमात्र के लिए है । ऋत और सत्य, तप और ब्रह्मचर्य, इन शब्दों के पीछे जो अपरिमित अर्थ है, वही शाश्वत मूल्य का है । बाह्य शब्द के ग्रहण कर लेने पर भी अर्थ तक पहुँचने के लिए मानस प्रयत्न की आवश्यकता होती है । अर्थ के साथ तन्मय होने के लिये ध्यान की शक्ति चाहिए । अर्थ का प्रवाह जब मानस में बहने लगता है तब शब्द का आवरण हट जाता है । वही सच्चा आनन्द है । अनबूझ अर्थ के लिए शब्द बोझा मात्र है । शब्द ढोने से क्या लाभ, यदि अर्थ का विज्ञान प्राप्त नहीं हुआ । अर्थ का विज्ञान आत्मसात् करने के लिये वैसा ही हो जाना आवश्यक है । इसी दृष्टिकोण से ब्राह्मण ग्रन्थो में शब्दों का निर्वचन करते हुए अनेक

स्थानों पर यह कहा जाता है—'स एवं भवति य एवं वेद'। जो इस प्रकार जानता है वह इसी प्रकार का बन जाता है।' जानना ही जीवन है। जैसा ज्ञान वैसा जीवन। ज्ञान और जीवन का अभेद ही सत्य स्थिति है। इस दृष्टि से एक शब्द को भी हम सच्चे रूप में जान लें, उसके पुष्कल अर्थ प्रत्यक्ष कर लें, तो हमारे लिये पर्याप्त है। पतञ्जलि ने जब यह लिखा कि एक शब्द का सम्यक् ज्ञान होने से, उसका शुद्ध प्रयोग करने से, वह स्वर्ग और लोक में कामधुक् बन जाता है, तब इस वाक्य के मूल मे उनका यही भाव था कि अर्थ का साक्षात्कार ही शब्द का सच्चा ज्ञान है। उसी में जीवन के कल्याणतम रूप के दर्शन होते हैं। अकेला 'सत्य' शब्द ही मानवीय मन को उस अर्थ के साथ जोड देता है जो महती शक्ति है। अर्थ विद्युत्पुञ्ज के समान है। क्षण भर के लिये अर्थ दृश्य में आता है तो अपने पीछे प्रकाश और आनन्द की रेखा छोड़ जाता है। अर्थ का आवाहन सच्ची जिज्ञासा है। वही सत्यात्मा की स्थिति है। केवल शब्द मूर्च्छित अवस्था का द्योतक है। अर्थ नितान्त जागरण का नाम है। शब्द चट्टान की तरह भारी और स्थूल है। अर्थ उसमे व्याप्त विद्युत् शक्ति है, जिसके स्फुलिंगी तत्त्व से विश्व का अन्तिम रूप बना है। सत्य के लोक का द्वार उसी के लिए उद्घाटित होता है जो अर्थ में मन लगाता है। अर्थ गुरु है। उद्बोधन ही उसका रूप है। शब्द शिष्य है। शब्द की जडता अथ के ज्ञान से ही दूर होती है। विश्व की नाना भाषाओं में शब्दो के अनन्त भेद हैं। वैखरी भाषा देश और काल मे बिखरी है, किन्तु उस के पीछे अर्थ सर्वत्र व्यापी और महान् है। वह एक है, नित्य है, सबके लिए समान है। जो उसका दोहन करते हैं, उन्हें वह प्राप्त होता है। अतीत काल में जिन्होंने इस अर्थ की उपासना की, उन्हें वह प्राप्त हुआ। भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ अर्थों के महासमुद्र की विशेष तरङ्गों का परिचय प्राप्त करने में मन लगाती हैं। उसी उसी प्रकार का अर्थ उनके सामने प्रकट होता है। किसी भी देश के मनीषी जब एकाग्र मन से

ध्यान करते हैं, तब उस-उस प्रकार के अर्थ का साक्षात्कार करते हैं। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में अर्थ के महासमुद्र का विलक्षण मन्थन पाया जाता हैं। सृष्टि सम्बन्धी दिव्य अर्थों को यहाँ के मनीषियों ने अपने चिन्तन का विषय बनाया। जो विश्व-सृष्टि का सत्य है, वही मानव के अध्यात्म का सत्य है। जो मानव के अध्यात्म का सत्य है, वही समाज का सत्य है। सामाजिक जीवन, मानव का अध्यात्मिक जीवन, और नित्य दिव्य सृष्टि इन तीनों का सत्य एक और अखण्ड है। भूमण्डल से दूरतम आकाश देश में स्थित ब्रह्म हृदय, नक्षत्र और नीहारिकाओं के अभ्यन्तर में जो भौतिक सत्य है, वही हमारे इस धरातल में घटित होता है।

पञ्चभूत मन और आत्मा, इनका विस्तार देश और काल में अव्यवहित है। कहीं से विच्छिन्न या खण्डित नही। यही देव की महिमा इस लोक में छाई है, इस अर्थ को जो जानता है, उसी का जानना सच्चा है। यह अर्थ शुद्ध है, किन्तु मानव के मन से तिरोहित नहीं। सृष्टि की भाषा न नितान्त प्रकट है, और न नितान्त गूढ। वेदों में देव की पुत्रियों को अनग्ना अवसना कहा गया है, न उनका रूप एकान्तत: नग्न है, और न एकान्तत ढका हुआ। अतएव जो जितना प्रयत्न उस अर्थ में भागधेय पाने के लिए करता है, उतनी ही उसे फल-प्राप्ति होती है अर्थ का अन्त नहीं और न शब्दों का अन्त है, किन्तु केवल शब्द के अपरिमित ज्ञान से मनुष्य का मन तृप्त नही होता। सच्ची तृप्ति अर्थज्ञान या अर्थ के साक्षात्कार में है। अर्थ के साथ जब सीधा सम्बन्ध जुड़ता है, तब मन आनन्द से भर जाता है। मन का अन्धकार हट कर उज्ज्वल प्रकाश का आविर्भाव होता है। अतएव अहरह: अर्थ की उपासना करनी चाहिए। अर्थ अमृत है। उसकी एक बूंद भी मिल जाती है तो जीवन में आनन्द, प्रकाश, शक्ति और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। अर्थ का अमृत चारो ओर विश्व मे भरा हुआ है; प्रतिक्षण उसका झरना झर

रहा है। शब्द की शतधाराओं में सहस्रधा अर्थ का निरन्तर अवतार हो रहा है। उस अर्थ के प्रति अपने मन को उन्मुक्त करना चाहिए और उन्मुक्त करने की युक्ति प्राप्त करनी चाहिए। जो अर्थ को देखता है, उसी का दर्शन वास्तविक है। अर्थ की दृष्टि प्राप्त होने पर बुद्धि का तर्क परिसमाप्त हो जाता है। बुद्धि सत्य के एक देश को ग्रहण करती है। वह इद इत्थ ज्ञात का आग्रह करती है। उसका एक समय मे एक दृष्टिकोण होता है। किन्तु अर्थ मे एक ही साथ सहस्र दृष्टियों का पर्यवसान है, वहाँ सहस्र दृष्टियाँ मिल जाती हैं। अर्थ उस केन्द्र के समान है जिसे वृत्त पर खड़े होकर हम चाहे जिस स्थान से देख सकते हैं। केन्द्र मे सब दृष्टियों का समन्वय है। प्राचीन वैदिक परिभाषाओं के अनुसार केन्द्र की ही सज्ञा हृदय थी और केन्द्र को ही ऊर्ध्व कहते थे। ऊर्ध्व ही अमृत है। ऊर्ध्व ही नित्य ब्रह्म है। वही हृदय देश में स्थित अविनाशी अक्षर है। सब भूतो के हृदय मे स्थित वहाँ अमृत तत्त्व है जिसे अनेक नामों से कहा जाता है, केन्द्र की ऊर्ध्व प्रवृत्ति एकायन वृत्ति है, जहाँ सब पथों का अन्त है। केन्द्र से पराङ्मुखी प्रवृत्ति हमें भेदों की ओर ले जाती है। व्यावहारिक सत्ता के लिये भेद भी आवश्यक हैं। किन्तु मानव के लिये मूल्यवान् वह लोक है जिसमें अभेद के दर्शन होते हैं, जहाँ एकत्व की सम्प्राप्ति होती है, जिनमें समस्त विश्व एक में लीन होता है, और सब के साथ एकता की प्रतीति होती है। उस अनुभव का जो विलक्षण आनन्द है, अन्तर में जानने की वस्तु है, कहने सुनने की नहीं। मूलभूत एकता का वह अलौकिक अनुभव ही मानव के स्थूल व्यवहारों को सदा पुष्ट करता है। जब हम प्राणिमात्र के साथ एकत्व की स्थिति प्राप्त करते हैं तो ममत्व का प्रभाव पीछे छूट जाता है, भय विगलित हो जाता है, हिंसा शान्त हो जाती है, प्रेम और सत्य का नया प्रवाह उमड पडता है, और मनुष्य का मन आनन्द के समुद्र में डूब जाता है। वही जीवन की समग्रता है। क्या स्थूल जीवन मे यह सम्भव है कि मनुष्य उस एकाग्रता

की अनुभूति कर सकें ? यहाँ तो हमारे कर्म, हमारा स्व, और हमारा भाव मर्यादित है। समग्रता ही विश्वज्ञान, अध्यात्म, और आनन्द की साक्षात् स्थिति है। प्रत्येक मनुष्य के लिए अमृत और मृत्यु के द्वार खुले हैं। सब को इन में भागधेय मिला है। समग्रता अमृत की प्राप्ति है, खण्डभाव मृत्यु का रूप है। शरीर और स्थूल जीवन हमें मर्यादित करते हैं और खण्डभाव से जोड़ते हैं। मन अमृत और समग्रभाव अनुभूति का साधन है। हम में से प्रत्येक को शरीर और मन दोनों को साथ लेकर चलना है। ये दोनों दो हविर्धान शकट हैं जिनमें हमारी जीवन की सामग्री का सभार लदा है। एक ओर स्थूल विश्व पदार्थ हैं, दूसरी ओर मन के सूक्ष्म भाव हैं। दोनों सत्य हैं। दोनों आवश्यक हैं। वैदिक यज्ञों मे दो हविर्धान शकटों की कल्पना की जाती है। उन दोनों को एक साथ जोड़ कर ले चलना है। एक मन का शकट है दूसरा शरीर का। एक वहित्र है, दूसरा लदा है; एक खीचने वाला है, दूसरा उससे खींचा जाता है। जो गतिशील है, वह स्थितिशील को गति देता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार लोक में वृषभ स्थूल शकट को खींच ले जाता है। ये दोनों शकट सब को जन्म-जन्म में प्राप्त होते हैं। पहले भी मिले थे, इस जन्म में पुन: प्राप्त हुए हैं। जो हमारा पूर्व उपार्जित शक्तिकोश है, उसके साथ शकटो को पुन: जोड़ना है, और अपनी अपनी भावना एव साधना के अनुरूप दोनों को आगे बढ़ना है। शक्ति के उस पूर्व सचित कोश को वैदिक भाषा में "पूर्व्य ब्रह्म" कहा गया है। वह पूर्वकालिन उपबृंहण तत्त्व है जो हमारे अपने ही कर्म और ध्यान की शक्ति पाकर सचित हुआ है, वह हमारा अपना ही है। वही प्रत्येक को प्राप्त होता है। उसी से इस जीवन में भी हम जुड जाते हैं और आगे का मार्ग तय करते हैं। उस पूर्व शक्ति से सयुक्त होने के लिये सच्ची मानसिक श्रद्धा की आवश्यकता है। वैदिक शब्दों में इस श्रद्धा को ही 'नमस्कृति' कहा गया है। जो हमारा पूर्वकालीन ब्रह्म है उसके साथ

जीवन के वर्तमान शकट को जोड़ने के लिये 'नमस्कृति' की उसी प्रकार आवश्यकता है जिस प्रकार धवल वृषभ और छकड़े को नाधने के लिये रस्सियों की आवश्यकता होती है । नमस्कृति, नमोभाव, नमोवाक, श्रद्धायुक्त प्रार्थना, ध्यान, किसी भी शब्द से हम कहें, बात वही है । यह स्थिति मन के सच्चे प्रयत्न का पहला रूप है । यह स्वयं अन्दर से उत्पन्न होती है । जिनके भीतर अध्यात्म के स्वर है, वे नमोवाक की इस उक्ति को सुनते हैं, वे ही अमृत के पुत्र हैं । उन्हीं की दिव्य धाम में स्थिति है । उन्हीं के लिये निम्नलिखित मन्त्र है—

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्रा आ यो धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥

(ऋग्वेद १०।१३।१)

हम अपने दो हविर्धान शकटों को अपने पूर्वकालीन ब्रह्म के साथ जोड़ते हैं । मन और शरीर, सूक्ष्म और स्थूल, अमृत और मर्त्य, इन दोनो भागों के शकट हमारे पास हैं । नमस्कृति या प्रार्थना की शक्ति से उन शकटों को अपने पूर्व जन्मों के सचित वेग से सयुक्त करना है । वैदिक अध्यात्म विद्या के लिये ये अमृत सकेत हैं । जो अमृत के पुत्र हैं, वे इन्हें सुनते हैं । जिन्हे अमृत भावों में रुचि है, उन्हीं के लिए इनका मूल्य है । जो देव के धाम में स्थित हैं, वे ही इस ओर प्रवृत्त होते हैं ॥
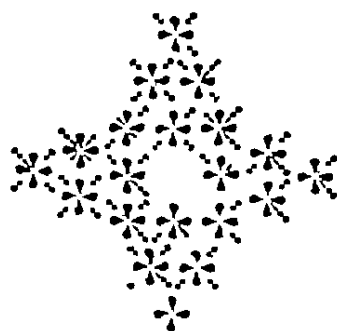
२४—आश्रम-विषयक योग-क्षेम
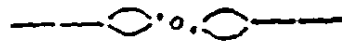
ऋषि-संघ के साथ विचरते हुए महर्षि अङ्गिरा एक बार महर्षि भृगु के आश्रम में पधारे। यथोचित कुशल प्रश्न और मधुपर्कादि सत्कारकर्मों के अनन्तर सुखपूर्वक प्राङ्मुखासीन भगवान् अङ्गिरा ने अन्तेवासी ऋषिकुमारों के मध्य में विराजमान परावरज्ञ भृगु महर्षि को सम्बोधन करते हुए उनकी सर्वतोमुखी कुशल जानने के लिए इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

हे वेदज्ञों में अग्रणी विप्रवर ! प्रचेताः आदि मुनियों के साथ पुराकाल में आपने मेरु-शिखर पर कठोर तप किया था। आज आपके पुण्य दर्शन से हमारे अन्त करण को परम आनन्द हुआ है। आपके अवदात तप की महिमा त्रिलोकी में किसे अविदित है ? वाक्कायमन से सर्वथा सम्भृत आपके त्रिविध तप मे कोई अन्तराय तो नहीं होता ? कालचक्र के सपर्क से उस की अक्षय्यता में वाधा तो नहीं पड़ती ? आपकी समाधि में सनातन ब्रह्म का प्रत्यक्ष तो निरन्तर होता रहता है ? तम से अतीत, परोरजा, आदित्य-पुरुष की उपासना तो आपके यहा नियमपूर्वक होती है ? श्रुति महती सरस्वती के प्रत्यक्ष करने में तो आपका मन एकाग्र होता है ? जिस ऋतम्भरा प्रज्ञा से आप त्रिलोकी का साक्षात्कार करते हैं, उसकी दिव्य ज्योति पर कभी तमिस्रा का आक्रमण तो नहीं होता ? अपरिमिति श्रम से आराधित आपके त्रयी-ज्ञान से आश्रम के अन्तेवासी तो नित्य लाभान्वित

होते रहते हैं ? श्रुतियों के अनन्त पारावर में दिव्य नौका के समान तैरते हुए आपके दृढ़ मन का आश्रय पाकर ब्रह्मचारी तो नियम से कल्याण का साधन करते हैं ? आश्रम में श्रुतियों का घोष तो निरन्तर सुना जाता है ?

सरस्वती के तीर पर विचरनेवाली आपकी कामदुघा गौएँ तो सब प्रकार से कुशल से हैं ? ब्रह्मचारी श्रद्धा के साथ गौओं की शुश्रूषा करते हैं या नही ? **'सदा गावः शुचयो विश्वधायसः'** आदि मन्त्रों पर वे विचार करते हैं या नहीं ? महर्षि जमदग्नि के प्रख्यात त्रिष्टुपों[2] के अर्थों का ब्रह्मचारियों को स्फुरण होता है या नहीं ? सप्त साम और सप्त छन्दों में वाक् का समुदीरण करने वाली गौ को वे जानते हैं या नहीं ? रुद्रों की माता, वसुओं की दुहिता और आदित्यों की स्वसा गौ की वे प्रसन्न मन से आराधना करते हैं या नहीं ? क्या अमृत की नाभि अदिति नामक गौ के स्वरूप से वे परिचित हैं ? इस विराट् धेनु के साथ अपनी दभ्रचित्तता के कारण वे कभी द्रोह तो नही करते ? विराज गोदोहन के मर्म से क्या वे अभिज्ञ है ? वाक्, प्राण मन और धेनु, ऋषभ, वत्स के रहस्यों पर क्या कभी वे मिल कर विचार करते हैं ? महर्षियों से व्याख्यात संहिताओं के मर्म को वे जानने का प्रयत्न करते हैं या नहीं ? आपके यहाँ स्वस्तिमती अमृतदोहा धेनुएँ वत्सों को प्रेमपूर्वक चाटती हैं या नही ? क्या आपके अन्तेवासी **'वाग्वै माता प्राणः पुत्रः'** की अध्यात्म परिभाषाओं को यथावत् जानते हैं ?

---

१ साम पूर्वार्चिक प्रपा० ५, दशति ६, मन्त्र ६ ।

२ माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः । प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट । वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम् । देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गां मा मा वृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः ॥

३ ऐतरेय आरण्यक ३।१।६, तथा ऋग्वेद १०।११४।४ एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे । तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥

सरस्वती के जल में खडे होकर आपके ब्रह्मचारी पवित्र अघमर्षण[1] सूक्तों का जप करते हैं या नहीं ? ऊँचे स्वर से मिल कर वे शुद्धवती[2] ऋचाओं को गाते हैं या नही ? क्या अस्यवामीय[3] और नासदीय[4] सूक्तों का गान करने वाले ब्रह्मचारियों का संघ आपके यहाँ है ? तरत्समन्दीय[5] और हविषपान्तीय[6] ऋचाओं के पारायण में कभी उनकी स्पर्धा होती है या नही ? शिव संकल्प सूक्तो[7] के मन्त्रों के विमर्श से वे मन के तेज को प्राप्त करते हैं या नहीं ? कुवित्सोमस्यापामिति[8] के समान उनके चित्त मे नित्य उत्साह का स्फुरण होता है नहीं ? आलोकित मन से वे नित्य सूर्योपस्थान करते हैं

---

१ ऋत च सत्य आदि—ऋ० १०।१९०।१—३ ।

२ शुद्धवती ऋचाए—ऋ० ८।९५।७,८,९—

एता न्विन्द्र स्तवाम शुद्ध शुद्धेन साम्ना ।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांस शुद्ध आशीर्वान्ममत्तु ॥७॥
इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्ध शुद्धाभिरूतिभिः ।
शुद्धो रयिं निधारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥८॥
इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाज सिषाससि ॥९॥

३. अस्यवामीय सूक्त—ऋ० १।१६४।१—५० ।

४. नासदीय सूक्त ऋ० १०।१२९।१—७ ।

५ तरत्स मन्दी धावति आदि—ऋ० ९।५८।१—४ ।

६ हविष्पान्तीय सूक्त—ऋ० १०।८८।१—१९ ।

७ शिवसंकल्प सूक्त जिसके ऋषि का नाम भी शिवसंकल्प है—यजु० ३४।१—६ ।

८ इति वा इति मे मन आदि आत्मस्तुति परक सूक्त—ऋ० १०।११९।१—१३ ।

या नहीं ? आपके यहाँ 'सेतूँस्तरं'[1] साम का गान करने वाले ब्रह्मचारी कितने हैं ? क्या वे दान से अदान, अक्रोध से क्रोध, सत्य से अनृत और श्रद्धा से अश्रद्धा[2] को जीतने की इच्छा रखते हैं ? क्या वे चार दुस्तर सेतुओं को पार करके अमृत और ज्योति तक पहुँचने की अभिलाषा करते हैं[3] ? उनमें से कितनों के मन मे आदित्यवर्ण पुरुष का साक्षात्कार करने की इच्छा जागरूक हुई है ? क्या वे जानते हैं किस प्रकार महर्षि लोग उस प्रत्न रेत से देदीप्यमान ज्योति को, जो द्युलोक से परे है, देख लेते हैं[4] ? **पावमानी**[5] **ऋचाओं में** ऋषियों ने जिस रस का सञ्चय किया है, उसका अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी आपके यहाँ किस फल की आशा करते हैं ?

क्या आपके अन्तेवासी ऋषि-सघों में अध्यात्म प्रवादों का श्रवण करते हैं ? **ब्रह्मोद्य**[6] चर्चाओं में तो उनका मन लगता है ? **संश्रुतेन गमेमहि, मा श्रुते विराधिषि**[7] के सिद्धान्त को पथ-प्रदीप बना वे सम्यक् आचार का ग्रहण करते हैं या नहीं ? श्रुति की दुर्धर्षता के

---

१ सामवेद पूर्वार्च्चिक, प्रपाठक ६, दशति १०, मन्त्र ६—अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम । यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ।

२ दानेनादानम् ।अक्रोधेन क्रोध । सत्येनानृतम् । श्रद्धयाश्रद्धाम् ।

३ एषागति । एतदमृतम् । स्वर्गच्छ । ज्योतिर्गच्छ । सेतूस्तीर्त्वा चतुर ।

४ आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवा ॥
ऋ० ८। ६।३।

५ पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभि॰ सम्भृत रसम् । तस्मै सरस्वती दुहे क्षीर सर्पिर्मधूदकम् ॥ ऋ० ६।६७।३२।

६ निर्गुणब्रह्मविचारो ब्रह्मोद्यम् । देखिए, का० १२।४।१६,२०॥

७ अथर्व १७।१७।४॥

सामने उनका मूर्धाविपतन तो नही होने लगता ? भरद्वाज के सदृश तीन जन्म पर्यन्त वेदाध्ययन[1] करते रहने की निष्ठा से कितने ब्रह्मचारी व्रतवान् बने हैं ? क्या 'अनन्ता वै वेदाः'[2] का मर्म जानने के लिए वे कभी श्रोत्रियों के चरणों में समित्पाणि होकर प्रश्न करते हैं ? क्या कभी 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्'[3] की व्यञ्जना पर भी उन्होंने विचार किया है ? 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'[4] के अनिरुक्त भावों को आत्मसात् करने की चेष्टा वे करते हैं या नहीं ? 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'[5] तथा 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः'[6] के बहुधा पद पर वे यथार्थ विचार करते हैं या नही ? प्रजापति के उभयविध रूपों[7] की मीमासा आपके आश्रम में किस प्रकार होती है ? अनिरुक्त और अपरिमित का निरुक्त और परिमित[8] से यथावत् विवेक वे कर सकते हैं या नही ? देव असुरो की आख्यान सयुक्त ऋचाओं को देख कर उन्हें कभी भ्रम तो नहीं हो जाता[9] ? आर्ष शैली को सपरिज्ञात करने मे वे खेद का अनुभव तो नहीं करते ? 'परोक्ष-प्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः'[10] इस मार्मिक सत्य को जान कर वे तत्त्व का अन्वेषण करते हैं या नही ?

---

१ भरद्वाजो ह वा त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास । तै० ब्रा० ३।१०।११॥

२ तै० ब्र० ३।१०।११।४॥

३ ऋ० ३।५४।५॥

४ ऋ० १०।१२१।१॥यजु १३।४॥

५ ऋ० १।१६४।४६।

६ ऋ० ८।५८।२॥

७ द्वय ह वै प्रजापते . रूपम् ।

८ छा० उ० ७।२४।१॥ ९ नैतदस्ति यद्दैवासुर यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यते इतिहासे त्वत् । शत० ११।१।६।१७॥

१० परोक्ष प्रिया इव वै देवा. प्रत्यक्षद्विष. बृ० उ० ४।२।२॥

शरीर मर्त्य है'[1]—इन को जान कर वे मन्त्रो के रहस्य को अधिगत करते हैं या नहीं ? मज्जा, अस्थि स्नायु, मांस, मेद, असृक् इन छह मर्त्य चितियों का उनको ज्ञान है या नहीं ? क्या वे जानते हैं कि शरीर में ये छह पुरीषचिति या गारे की कच्ची चितियां हैं ? इनके साथ मिलने वाली छह अमृत चिति या इष्टका-चितियों[2] को वे जानते हैं या नहीं ? प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, वाक् इन छह प्रकार के अमृतों का उन को बोध है या नही, जो मर्त्य चितियो के साथ मिल क इस शरीर को प्राणयुक्त एव अमृतमय बनाते हैं ? यजमान इनसे अजर-अमर बन सकता है। इसको विना जाने आपके शिष्य यज्ञ-क्रियाओ में तो सम्मिलित नहीं हो जाते ? प्राण और अपान ही प्रयाज और अनुयाज नाम के यज्ञाङ्ग हैं[3]। प्राण की उपनिषद्विद्या का अध्ययन करते हुए इसको वे जान लेते हैं या नहीं ? गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-रूप अग्नि त्रेता के जिन आध्यात्मिक अर्थों[4] का ऋषियों ने व्याख्यान किया है, उनका आपके यहाँ भी व्याख्यान होता है या नही ? शिर ही आहवनीय है, इसी को चितेनिधेय या अमृत अग्नि[5] भी कहते हैं, तथा शरीर का अर्वाचीन भाग मर्त्य एव चित्याग्नि कहा[6] कहा गया है—इस

---

१ प्राणा एवामृता आसुः, शरीर मर्त्यम्। शत० १० । १ । ४ । १ ॥

२. देखो, शत० १० । १ । ४ । १-८ ॥

३. प्राणा वै प्रयाजा., अपाना अनुयाजा' । शत० ११ । २ । ७ । २७ ॥ -

४ ते वा एते प्राणा एव यद् आहवनीयगार्हपत्यान्वाहार्यपचनाख्या अग्नयः शत० २ । २ । २ । १८ ॥ गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः, व्यानो अन्वाहार्य पचन., . आहवनीय. प्राणः । प्रश्नो० ४ । ३ ॥

५ शिरो वै यज्ञस्याहवनीय. । शत० १ । ३ । ३ । १२ ॥ यश्चितेऽग्निर्निधीयते असौ स आदित्यः । शत० ६ । १ । २ । २० ॥ अग्निरमृतम् । शत० १०। २ । ६ । १७ ॥

६. चेतव्यो ह्यासीत तस्माच्चित्यः । शत० ६ । १ । २ । १६ ॥

प्रकार के ज्ञान से आपके यहाँ प्राणाग्नियों की उपासना होती है या नही ? इस शरीर में भरा हुआ जो रस है, उस रस-रूप सोम के अधिश्रयण या पाक से उत्तरोत्तर शुद्ध और कल्याणवर्ण रेत-रूप सोम का अभिषव होता रहता है। वह सोम ओषधिवनस्पति-रूप नाडियों की शाखा-प्रशाखाओं को किस प्रकार स्वस्थ और विदग्ध बनाता है; फिर किस प्रकार मस्तिष्क-रूप स्वर्ग में सचित होकर वहाँ के ज्ञान-कोषों को वह पुष्ट और ऊर्जित बनता है, इस मर्म को समझने में आपके अन्तेवासी पर्याप्त कुशलता का परिचय देते हुए किसी से पीछे तो नहीं रहते ? सोम का पान ही ब्रह्मचर्य की साधना है,[1] यही सोम-याग अमृतत्व का हेतु है, इस प्रकार के ज्ञान से ब्रह्मचारी अध्यात्म सोमयाग करते हुए 'सोममर्हति यः'[2] की परिभाषा के अनुसार सोम्य संज्ञा को चरितार्थ तो करते हैं ? उचित उपवास के द्वारा बलवान् बनी हुई जो प्राणाग्नि शरीरस्थ सोम को निर्मल बनाती है एवं सुवर्ण के समान उसके मलो को दग्ध कर देती है, उस प्राणाग्नि की उपासना के निमित्त आप ब्रह्मचारियों के लिए व्रतों का विधान करते रहते हैं या नहीं ? प्राणरूपी तनूपा अग्नि ही शरीर की ऊनता एवं दुरितों का क्षय करके उसे अरिष्ट बनाती है, वही आयु और वर्चस् का संवर्धन करती है, इस प्रकार श्रद्धा के साथ आपके आश्रम में ब्राह्ममुहूर्त के समय सब ब्रह्मचारी मिलकर तनूपा मन्त्रों[3] का गान करते हैं या नहीं ?

सोम और वाज शब्दों के अर्थों[4] का तो आपके यहाँ पुनः पुनः विचार होता रहता है ? प्राण और अमृत[5] की पर्यायार्थता तो सब

---

१. देखो, यही ग्रन्थ पृष्ठ १४६ ॥

२. अष्टा० ४ । ४ । १३७ ॥

३. तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि इत्यादि । यजु ३ । १७ ॥

४ देखो, वाजपेयविद्या लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ ५६ ॥

५ अमृतमु वै प्राणाः । शत० ६ । १ । २ । ३२ ॥

को विदित है ? सोम-पान और वाजपेय की कल्पना तो सब ब्रह्मचारियों के मन में दृढ है ? वाज का पान करके भरद्वाज बनने वाले[1] शिष्यों को तो आप उचित रीति से सम्मानित करते रहते हैं ? वाज का क्षय करके च्यवन प्रवृत्ति[2] से ग्रसित तो आपके यहाँ कोई नहीं है ? यदि प्रमादवशात् कही पर क्षयिष्णु च्यवन धर्म का उदय हो भी जाता है, तो ऐसा तो नहीं है कि उसका तुरन्त प्रतीकार न किया जाता हो ? जीर्ण च्यवन को पुन. वाज-सम्पन्न करने वाले दैवी भिषक् प्राणापान हैं, इन अश्विनीकुमारों[3] की चिकित्सा ही योगविधि है, इस प्रकार सनातनी योग-विद्या के मर्म को तो सब अन्तेवासी जानते हैं ? हे ऋषिवर, प्राणविद्या अत्यन्त गूढ़ है, प्राणों से ही सृष्टि का विकास होता है, ऋषि-सञ्ज्ञक प्राण ही असत्‌रूप मे सृष्टि के पूर्व में वर्तमान रहते हैं।[4] उनमें मुख्य प्राण का नाम ही इन्द्र[5] है। क्योंकि इन्द्रियो के मध्य में यही प्रज्वलित होता है। प्राण ही एकर्षि[6] है। प्राण ही महावीर एकवीर,[7] दशवीर[8] आदि असंख्य नामों से विख्यात है। प्राण ही शरीर नामक मृत्पिण्ड को अर्चनीय बनाता है।[9] प्राणरूपी अर्क की रश्मियो से सर्वत्र प्रकाश का अनुभव होता है। ऐसे वरिष्ठ, श्रेष्ठ, ओजिष्ठ, महिष्ठ

---

१ देखो, यही ग्रन्थ पृष्ठ १६।

२. देखो, यही ग्रन्थ पृष्ठ १५, १६।

३ देखो, यही ग्रन्थ पृष्ठ ६३, ६४।

४ किं तदसदासीदिति–ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । शत० ६ । १ । १ । १ ॥

५. देखो, 'इन्द्र' सञ्ज्ञक लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ १३९।

६ त्वं प्राणैकऋषिः । प्रश्नो० २ । ११ ॥

७ एको ह्येवैष वीरो यत्प्राणः । जै० उ० २ । ५ । १ ॥

८ प्राणा वै दशवीराः । शत० ४ । २ । १ । ९ ॥

९ प्राणो वा अर्क । शत० १० । ४ । १ । २३ ॥ प्राणेन हि एवास्मिन् लोकेऽमृतत्वमाप्नोति । शा० आ० ५ । २ ॥

देव की उत्पत्ति, आयति, स्थान, पञ्चधा विभुत्व और अध्यात्म को जानना महा कठिन है। उस को विना जाने अमृतत्व की प्राप्ति उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार आकाश को चमड़े के समान लपेट कर उस का वेष्टन वना लेना। हे महर्षे! इस प्रकार की सर्वविद्याप्रतिष्ठा प्राणविद्या को जानने के लिए इस चरण के ब्रह्मचारी अहर्निश प्रयत्न करते हैं या नहीं? प्राण ही सव अङ्गों का रस होने से अङ्गिरस कहा जाता[1] है, उसके अभाव में जीवन शुष्क पर्ण के समान नीरस हो जाता है। इस परोक्ष निरुक्ति पर ध्यान देकर जीवन के सभी अङ्गों में प्राण से विरहित तो कोई क्रिया आप नहीं करते? 'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे' आदि प्राणसूक्त[2] का पारायण तो आपकी परिषदों में होता है? इसी प्रकार ब्रह्मचर्य सूक्त[3], स्कम्भसूक्त[4] और केन पार्ष्णी[5] सूक्तों को भी जव आपके शिष्य गाते हैं, तव सव ध्यान-पूर्वक उन्हें सुनते हैं या नहीं? हे सोम्य, तुम सौपर्णोपाख्यान[6] का वर्णन करो; तथा हे वाजश्रवा, तुम शौनःशेप उपाख्यान[7] में ऋषि-पुत्र शुनःशेप के यश का गान करो, इस प्रकार का आदेश भी आप अपने ब्रह्मचारियों को वहुधा देते रहते हैं या नहीं? 'इष्णन्निषाणामुं म इषाण, सर्वं लोकं म इषाण,'[8] इस प्रकार की विराट् प्रार्थना को प्रात:काल जव ब्रह्मचारी संघ में कहते हैं, तव उसका

१ प्राणो वा अङ्गिराः। शत० ६।१।२।२८॥

२ अथर्व ११।४॥

३ अथर्व ११।५॥

४. अथर्व० १०।७॥

५ अथर्व १०।२॥

६. ऐ० ब्रा० ३।२५—२८॥ शत० ३।२।४॥

७. ऐ० ब्रा० ७।१३—१८॥

८. यजु० ३१।२२॥

कैसा प्रभाव रहता है ? 'एत्रा मे प्राण मा बिभेः'[1] के नाद से आश्रम का वायु-मण्डल नित्य गुञ्जायमान होता है या नहीं ?

आपके ब्रह्मचारी प्रासादों के मोह में पड़कर कुटियो को तो नहीं भूल जाते ? अरण्यजीवन से तो उन्हें प्रेम है ? गिरियों के उपह्वर और नदियों के सङ्गमों पर दिव्य बुद्धि की उपासना तो वे करते हैं ? गिरिकन्दराएँ और नदी-सङ्गम दोनों आदि अन्त के सूचक हैं, इन पर जो ध्यान करते हैं वे ही विप्र पदवी को पाते है[2]—इस प्रकार के अध्यात्म अर्थों पर कितने ब्रह्मचारी अपनी सूक्ष्म दृष्टि ले जाते हैं ? हे वरेण्य मुनिवर, कुटी से प्रेम करना अमर जीवन का लक्षण है, इसका दृढ़ सस्कार आपके अन्तेवासियों के मन पर होना चाहिए । आकाश तेज और वायु का स्वच्छन्द प्रचार जहाँ होता है, वहाँ वरुण-पाश नहीं फैलने पाते । आपके शिष्यों के निवास-स्थानों में महा भूतों का निर्बाध प्रवेश तो होता है ? वे खुली वायु मे भरपूर सास लेते हैं या नहीं ? स्वच्छन्द सूर्य प्रकाश में नीले आकाश के नीचे स्वाभाविक जीवन का तो वे स्वागत करते हैं ? दभ्रता का सक्रमण तो उनके चित्त में नही होता ? हृदय की क्षुद्रता में अमृतत्व कहाँ रह सकता है ? कहीं सकीर्ण तमसावृत प्रदेश तो हृदय-गुहा में वे नही बना लेते ? प्रसन्न-चित्तता से उदासीनता को तो वे परास्त करते हैं ? हृदय-गह्वरों के अन्धकार को हँस कर वे दूर कर सकने हैं या नहीं ? अन्त शक्ति को प्रकट करने वाली प्रसन्नता उनके मुख-मण्डल पर चमकती है या नहीं ? आपके आश्रम में अश्वत्थ और न्यग्रोधादि महावृक्ष तो विशाल स्कन्ध और शाखा-प्रशाखाओं के साथ फैलते हैं ? उनकी तिर्यक्प्रसारिणी शाखाएँ निम्नावलम्बिनी जटाए पृथिवी पर आकर फिर पादप जैसी प्रतीत होती हैं या नहीं ? उनके पुराण कोटरों में दिग्दिगन्त से आकर

---

१ अथर्व २ १५ ॥

२ उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत । यजुः २६ । १५॥

पक्षी सुख-पूर्वक निवास और कलरव करते हैं या नहीं ? छायादार वटवृक्षों की छाया में सरस्वती के पुण्यतीर पर ब्रह्मचारी अपने लिए तथा अभ्यागत मुनियों के लिए स्थण्डिल समेत पर्ण-कुटी की रचना में उत्साह प्रदर्शित करते हैं या नहीं ? अश्वत्थ और न्यग्रोधों को देखकर आपके ब्रह्मचारियों को ससार-विटप का भी ध्यान आता है या नहीं ? जिस अनादि वृक्ष का अव्यय कालचक्र के साथ अपरिमित विस्तार होता है, जो अव्यक्त मूल वाला है, जिस में अनेक पर्ण और वहुत से पुष्प हैं, जिसके प्रत्येक पर्ण पर अनन्त देशो के युगान्तव्यापी इतिहास अङ्कित हैं, जिसके स्वादु पिप्पलीफल को चखने वाले मध्वद सुपर्णों का श्रुतियों में वर्णन है[1], तथा भूत, भविष्य और वर्तमान जिसमें रस का सिञ्चन करके जिसे नित्य पल्लवित करते हैं, ऐसे ससार-विटप का ध्यान अश्वत्थ और न्यग्रोधों की उपमा से आपके ब्रह्मचारियों के मन में आता है या नहीं ? इस प्रकार के सकेत जिनके मन में प्रवेश नहीं करते, मृत्यु के पाश वहाँ अपना घेरा डालने लगते हैं; इसलिए आपके यहाँ विराट् एव अधिदैव अर्थों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है या नहीं ? द्युलोक और पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र, रात्रि और दिन, पर्वत और गिरि-निर्भर इनके दर्शन से आपके शिष्यों के चित्त प्रफुल्लित होते हैं या नही ?

आपके ब्रह्मचारी दर्भ और समिधाओं का सञ्चय करने के लिए वन में दूर-दूर तक जाते हैं या नहीं ? दर्भपवित्रपाणि होकर जलो के समीप मे वे नित्य प्रात-साय सन्ध्योपासन करते हैं या नहीं ? कुशाओं का प्राणों से जो सम्बन्ध है, उसका उन्हें ज्ञान सौपर्णाख्यान[2] के सुनने से हुआ है या नहीं ? क्या आपके यहाँ प्राणापान के प्रतिनिधि-स्वरूप यज्ञ मे दो पवित्रों का ग्रहण किया जाता है[3] ? क्या

१ यस्मिन् वृक्षे मध्वद सुपर्णा । ऋ० १ । १६४ । २२ ॥ अथर्व ९ । ९ । २१ ॥

२ ऐ० ब्रा० ३ । २५—२८ ॥ शत० ३ । २ । ४ ॥

३ प्राणापानौ पवित्रे । तै० ब्रा० ३ । ३ । ४ । ४ ॥

प्राणमय कोष को उपलक्षित करके बर्हिरास्तरण किया जाता है ? प्राणों की रक्षा के लिए ब्रह्मचारी दर्भमय आसन उपयोग में लाते है या नहीं ? श्रद्धा की पुत्री, तप से उत्पन्न हुई, ऋषियों की स्वसा[1] के अर्थ को तो वे जानते हैं ? तप, मेधा, दीर्घायु और इन्द्रिय-बल जिन प्राणों के स्वास्थ्य पर निर्भर है, उनकी निर्मलता का सम्पादन करने वाली मेखला[2] को वे कटिप्रदेश में धारण करते हैं या नहीं ? शीतोष्ण को सहने का उन्हें अभ्यास है या नहीं ? शीत ऋतु में जलसेवन द्वारा तप का संवर्धन करने की प्रथा आपके यहाँ है या नहीं ?

समय-समय पर आने वाले पूजार्ह अतिथियों की पूजा मधुपर्क द्वारा आपके यहाँ होती है या नहीं ? ऋषियों ने कहा है कि दधि इस लोक का, घृत अन्तरिक्ष का और मधु द्युलोक का रूप है[3], इस अर्थ को जानकर आपके यहाँ मधुपर्क तैयार किया जाता है या नही ? आपके अन्तेवासी स्वायम्भू प्रजापति के साथ प्रारम्भ होने वाले वंश को 'अस्माभिरधीतम्'[4] की अवधि तक स्मरण रखते हैं या नहीं ? विद्या-सम्बन्ध से वितत होने वाले वंशतन्तु को वे अपने द्वारा उच्छिन्न तो नहीं होने देते ? 'महर्षियों की परम्परा का सूत्र हमारी असावधानी से तो उत्सन्न नहीं हो जाता' इस प्रकार का पर्यवेक्षण वे करते हैं या नहीं ? ब्रह्मचारी की आयु के कौन से भाग को मृत्यु आक्रान्त कर लेती है, प्रजापति ने क्यों ब्रह्मचारी में मृत्यु को पहले भाग नहीं दिया, और फिर किस प्रमाद का निर्देश करके मृत्यु को उसमें भी भागधेय दे दिया[5],— इसको क्या आपके अन्तेवासी भली

---

१ श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसऋषीणाम् । अथर्व० ६ । १३३ । ४ ॥

२ सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च । अथर्व० ३ । १३३ । ४ ॥

३ दधि हैवास्य लोकस्य रूपं घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य । शत० ७ । ५ । १ । २

४ यथा—शा० आ० १५ । ५ शत० ११ । ३ । ३ । १ ॥ गो० पू० २ । ६ ॥

प्रकार जानते हैं ? ऐसा तो नहीं कि वे प्रमाद के वशीभूत हो जाते हों, क्योंकि सनत्कुमारादि महर्षियों ने प्रमाद को ही मृत्यु का रूप माना है ? सनत्कुमारादि से क्षुण्ण पद्धति पर चलने के लिए आपके अन्तेवासी कृतोत्साह होते हैं या नहीं ? पुराकाल में कितने सहस्र कुमार ब्रह्मचारी विप्र नैष्ठिक व्रत की दीक्षा लेकर द्युलोक से भी परे चले गये, इसको जानकर वे अनन्यभाव से स्वाध्याय में काल-यापन करते हैं या नहीं ? ऊर्ध्वरेता ऋषियों का मार्ग ही देवयान है, यही उत्तरायण पथ है, ऐसा जान कर दो सृतियों में से किस सृति का अवलम्बन करने के, लिए आपके ब्रह्मचारी उत्सुक रहते हैं ? आपके अन्तेवासियों के शरीरों में दक्षिण से उत्तर को बहने वाला मातरिश्वा वायु पाया जाता है या नहीं ? क्योंकि शुद्ध मातरिश्वा प्राण के बिना कोई भी ऊर्ध्वरेत नहीं बन सकता।

आपके शिष्यों के शरीर में जो शुक्ररूप आप् हैं,[1] उनमें काम अथवा क्रोध के रूप में कभी उष्णता तो उत्पन्न नहीं होती ? ऋषियों ने कहा है कि गर्म जल को सदा यज्ञ से बहिर्गत रखना ही उचित है, इस प्रकार 'इदमहं तप्तं वार्बहिर्द्धा यज्ञान्निः सृजामि'[2] के अर्थ का शिष्य जानते हैं या नहीं ? आप भी सब प्रकार इस उष्णता से उनकी रक्षा करते हैं या नहीं, जिससे उनके आयुर्यज्ञ के प्रातःसवन माध्यन्दिन-सवन और तृतीयसवन में वसु-रुद्र-आदित्यों की प्रतिष्ठा अनुत्क्रान्त बनी[3] रहे ? हे ऋषि प्रवर ! यह रहस्य अत्यन्त गूढ है, इस पुरुषयज्ञ की रक्षा वसु-काल में महान यत्न से करनी चाहिए। इसी तत्त्व की मीमांसा बह्वृच लोग महदुक्थ द्वारा और अध्वर्यु इष्टकाचयन से निष्पादित अग्नि को समिद्ध करते समय किया करते हैं; इसी ब्रह्मचर्य तत्त्व पर छन्दोगशाखाध्यायी महाव्रत के समय सूक्ष्म मीमांसा करते हैं।

१. शुक्रासाप। तै० ब्रा० १।७।३।३॥

२ शत० ३।५।२।८॥ ३. छा० उ० ३। १६। १—६॥

प्रज्ञ रेत की रक्षा के बिना यज्ञ का कोई भाग देवों को नही मिल सकता। इस सोम कीं रक्षा के लिए ब्रह्मचारी दृढ़ सकल्पवान् मन का शरीरों में भरण करते हैं या नही? इस रेत को ऋषियों ने ब्रह्मौदन कहा है, क्या आपके ब्रह्मचारी इस ओदन को पकाते हैं? क्या वे जानते हैं कि इस ओदन को तप द्वारा प्रजापति ने सिद्ध किया था? क्या वे इस मन्त्र के अर्थों पर ध्यानपूर्वक विचार करते हैं—

यस्मात् पक्वादमृत सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्[1]॥

क्या वे जानते हैं कि अमृत का उपभोग करने के लिए सब प्रकार के दुरितो से बचना अत्यावश्यक है? दुर्वाच, दुष्टुति, दुर्हार्द, दुर्भग, दुश्चित्त, दुश्चरित आदि अनेक दुरित हैं, पर इन सब में दु शास और दौःस्वप्न्य अत्यधिक भयङ्कर हैं, इनसे बचने के लिए आपके ब्रह्मचारी शिवसङ्कल्पो द्वारा सुशास सौस्वप्न्य का आश्रय लेते हैं? क्या वे '**पुनर्मामैत्विन्द्रियम्**'[2] का पाठ करते हैं? ऋक यजु-साम का अधिष्ठान मन है[3], मन ही अमृत है, मन से ही सप्त होता यज्ञ का वितान होता है[4], ऐसे मन पर अधिकार पाने के लिए शिवसङ्कल्प की अपार महिमा को क्या आपके अन्तेवासी जानते हैं? स्वाशिस्, स्विष्ट, सूक्ति, सुकृति, सुकेतु, सुक्रतु, सुगोपा, सुचक्षस्, सुचेतस्, सुज्योति, सुतप, सुदक्ष, सुदेवता, सुदृशीकता, सुद्रविणता, सुनीति, सुपथ, सुपूर्त, सुप्रतीक, सुप्रवाचन, सुप्रीति, सुभद्रता, सौमनस, सुमित्र, सुयज्ञ, सुरेत सुवर्चस्, सुवाक्, सुविज्ञान, सुवीर्य, सुव्रत, सुशर्म, सुशिष्ट, सुषुम्ण, सुहव, सुष्टुति और सौश्रवस आदि अनेक कल्याण के रूप हैं—इन सबकी प्राप्ति शिव-सकल्पों की सहायता से आश्रम में होती है या नहीं? देवलोक में जो मन रूपी कल्पवृक्ष है, उसकी दिव्यशक्तियों को पहचानना ही शिवसकल्पों की

१ अथर्व ४। ३५। ६॥ २ अथर्व० ७। ६७। १॥
३ यजु. ३४। ५॥ ४ यजु. ३४। ४॥

विजय है; क्या इस प्रकार की विजय में आपके ब्रह्मचारियों की अचल श्रद्धा है ? स्वयं अन्तःकरण की प्रेरणा से तथा श्रद्धायुक्त मन से तप में प्रवृत्त होना सब विधानों का एकमात्र सार है, इसी को श्रुतियों ने सज्ञान कहा है। इस प्रकार के सज्ञान का आपके ब्रह्मचारियों के मानस-रूपी सरोवर में नित्य स्फुरण होता है या नहीं ? वाक् रूपी धेनु के अमृतक्षीर का पान करने के लिए मन ही परम वत्स कहा गया है,[1] उस मन का सम्मिलन सात्विकी श्रद्धा से आपके यहाँ होता है या नहीं ?

हे ऋषिवर ! श्रद्धा जिसका मूल है, तप जिसका स्कन्ध है, स्वाध्याय दीक्षा, शम, दम, आदि कर्म जिसके अनेक पर्ण हैं, और अमृतत्व जिसका मधुर फल है—ऐसा यह आश्रम रूपी महावृक्ष आप जैसे अध्यक्ष को पाकर नित्य नये प्रकार से संवर्धनशील तो है ? श्रुतियाँ जिसकी मूल हैं, आचार्य जिसका स्कन्ध है, अन्तेवासी ब्रह्मचारी जिस की शाखा प्रशाखाएँ हैं, आचार जिसके बहुपर्ण हैं, तथा अभ्युदय और निःश्रेयस् जिसके अनर्घ्य सुन्दर फल हैं—ऐसा यह आश्रम-रूपी विपुल अश्वत्थ सर्वदा स्वस्ति का भाजन होता रहता है या नहीं ?

अङ्गिरा ऋषि के उक्त प्रकार के कल्याणकारी प्रश्नों को सुनकर सब ऋषि-समाज को अतिशय आनन्द हुआ, और अन्तेवासियों के साथ अपने आप को परम धन्य मानते हुए भृगु ऋषि ने अति नम्र भाव से कहा—"हे सकल श्रुतियों में पारङ्गत महर्षे ! आपकी अमृत वर्षिणी वाक् कल्याण चाहनेवाले मनुष्यों के लिए साक्षात् कामधेनु के समान है। यद्यपि आप जैसे महामुनियों का पुण्य दर्शन ही सब प्रकार की कुशल का विधान करनेवाला है, तथापि आपने अत्यन्त कृपा करके ज्ञान विज्ञान संयुत अनेक प्रश्नों द्वारा जिन दुर्लभ अर्थों का प्रकाश किया है, उनके अनुसार ही भविष्य में हम श्रुति-महती सरस्वती के तीर पर अपने योग-क्षेम का संवर्द्धन करते रहेंगे।" इस प्रकार संमनस्कता के साथ वह ऋषि-संसद् सुखपूर्वक विसर्जित हुई।

---

१ वाग्वै धेनु.। गो० पू० २।२१॥ मन एव वत्स.॥ शत० ११। ३। १। १॥